कल बहुत देर हो जायेगी

(1992 के पृथ्वी सम्मेलन में भाषण)

फिदेल कास्त्रो

गार्गी प्रकाशन

प्रथम संस्करणः फरवरी, 2008
द्वितीय संस्करण : अप्रैल, 2017

'टुमॉरो विल बी टू लेट'
का हिन्दी अनुवाद
अनुवादकः ज्ञानेन्द्र सिंह

गार्गी प्रकाशन
1/4649/45बी, गली न0 -4,
न्यू मॉडर्न शाहदरा, दिल्ली-110032
e-mail : gargiprakashan15@gmail.com

मुद्रकः
प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स
ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया
जी।टी। रोड, शाहदरा, दिल्ली-95

ISBN 81-87772-19-0

मूल्यः 25 रुपये

Kal Bahut Der ho jayegi: Fidel Castro
(Hindi Translation of *Tomorrow will be too late:* Fidel Castro)

अध्याय 1

मानवजाति–
खतरे में पड़ी एक प्रजाति

एक महत्वपूर्ण जैविक प्रजाति– मानवजाति– के सामने अपने प्राकृतिक वास–स्थान के तीव्र और क्रमशः बढ़ते विनाश के कारण विलुप्त होने का खतरा है। इस समस्या के बारे में हम उस समय अवगत हो रहे हैं जब इसकी रोकथाम करने का वक्त लगभग हाथ से निकल चुका है। उल्लेखनीय है कि पर्यावरण के इस भयावह विनाश के लिए उपभोक्तावादी समाज ही मुख्यतः जिम्मेदार हैं।

ये समाज भूतपूर्व औपनिवेशिक महानगरों की देन हैं। वे उन साम्राज्यवादी नीतियों की सन्तान हैं जो खुद बहुसंख्यक मानवता पर कहर ढा रही गरीबी और पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार हैं।

दुनिया की जनसंख्या का महज 20 प्रतिशत होने के बावजूद वे दुनिया भर में धातुओं के कुल उत्पादन के दो–तिहाई और ऊर्जा के कुल उत्पादन के तीन–चौथाई का उपभोग करते हैं। उन्होंने नदियों और समुद्रों में जहर घोल दिया है, हवा को प्रदूषित कर दिया है तथा ओजोन की परत को कमजोर करके उसे छेद डाला है। उन्होंने वायुमण्डल को गैसों से सन्तृप्त कर पर्यावरण में ऐसे अनर्थकारी बदलाव ला दिये हैं जिनकी मार हम पर पड़नी शुरू हो चुकी है।

जंगल खत्म होते जा रहे हैं। रेगिस्तानों का विस्तार हो रहा है। अरबों टन उपजाऊ मिट्टी हर साल बहकर समुद्र में चली जाती है। बहुत सारी प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। जनसंख्या का दबाव और गरीबी में भी जीने की विवशता आदमी को निराशोन्मत्त प्रयासों की ओर धकेलती है, यहाँ तक कि प्रकृति के विनाश की कीमत पर भी। तीसरी दुनिया के देशों– यानि कल के उपनिवेश और आज के राष्ट्र जो एक अन्यायपूर्ण आर्थिक विश्व–व्यवस्था में शोषण और लूट के शिकार हैं– को इस सबके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

इसका समाधान यह नहीं हो सकता कि उन देशों का ही विकास रोक दिया जाये जिन्हें इसकी सबसे ज्यादा जरूरत है। क्योंकि आज अल्पविकास और गरीबी को बढ़ाने वाला हर कारक पर्यावरण के साथ जघन्य बलात्कार है।

परिणामस्वरूप, तीसरी दुनिया में हर साल कारोड़ों औरत–मर्द और बच्चे काल के गाल में समा जाते हैं। दोनों में से किसी विश्वयुद्ध में इतने लोग नहीं मारे गये।

असमान व्यापार, संरक्षणवाद और विदेशी कर्ज पर्यावरण–सन्तुलन पर घातक प्रभाव डालते हैं और उसके विनाश को बढ़ावा देते हैं। यदि हम मानवजाति को इस आत्मघात से बचाना चाहते हैं तो पूरी पृथ्वी पर धन–दौलत और उपलब्ध तकनीक का बेहतर तरीके से वितरण करना होगा। कुछ देशों में ऐशोआराम और बर्बादी में कटौती करने का मतलब होगा– अधिकांश विश्व में कम गरीबी और कम भुखमरी।

पर्यावरण को तबाह करने वाली जीवन शैली और उपभोग की आदतों का तीसरी दुनिया को निर्यात बन्द करो। मानव जीवन को और ज्यादा तर्कसंगत बनाओ। एक अधिक न्यायसंगत आर्थिक विश्व–व्यवस्था अपनाओ। प्रदूषण रहित टिकाऊ विकास के लिए विज्ञान को आधार बनाओ। विदेशी कर्ज की जगह पर्यावरण का कर्ज चुकाओ। भूख को हटाओ, मानव जाति को नहीं।

आज जब कम्युनिज्म का तथाकथित खतरा नहीं रह गया है और शीतयुद्ध या हथियारों की होड़ और भारी–भरकम सैन्य खर्चों को जारी रखने का भी कोई बहाना नहीं बचा है, फिर वह क्या चीज है जो तमाम संसाधनों को तेजी से तीसरी दुनिया के विकास को प्रोत्साहित करने में लगाने और हमारे ग्रह के सामने मौजूद पर्यावरण को विनाश के खतरे का मुकाबला करने से हमें रोक रही है?

स्वार्थपरता बहुत हो चुकी। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मंसूबे बहुत हुए। असंवेदनशीलता, गैरजिम्मेदारी और फरेब की हद हो चुकी है। जिसे हमें बहुत पहले ही करना चाहिए था, उसे करने के लिए कल बहुत देर हो चुकी होगी।

अध्याय 2

पर्यावरण संकट और तीसरी दुनिया

पर्यावरण और विकास सम्मेलन में भाग लेने के निमन्त्रण पर यहाँ रियो डि जिनेरो में आये हम लोगों में से किसी की भी नजरों से यह ओझल नहीं है कि यह एक महत्वपूर्ण बैठक है और मानवता की सुरक्षा और उसके अस्तित्व मात्र को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी कदम उठाने के बारे में निर्णय लेने की अति शीघ्र आवश्यकता है।

पर्यावरण का त्वरित गति से बढ़ता हुआ क्षरण शायद पूरी मानव जाति के सामने और खासकर जिसे तीसरी दुनिया कहा जाता है उसके सामने सबसे गम्भीर दीर्घकालिक खतरा है। नाभिकीय विनाश के सदा मौजूद खतरे के अलावा यह अब तक का सबसे बड़ा खतरा है जिसका सामना पूरी मानवता कर रही है। यह अल्प विकसित देशों और तीसरी दुनिया के करोड़ों लोगों की जीवन दशाओं को बदतर बनाने वाले सबसे शक्तिशाली कारकों में से एक है।

मानवता के इतिहास में कभी भी पूरे ग्रह के जीवन-तन्त्रों के विरुद्ध इतना व्यापक और विनाशकारी हमला नहीं हुआ। अल्पविकसित देशों में गरीबी और अल्पविकास अपने आप में प्राकृतिक पर्यावरण पर दबाव बढ़ाने वाले मुख्य कारक हैं। खेती और चरागाहों की जमीन का जरूरत से ज्यादा दोहन, खेती के अनुपयुक्त तरीके और वित्तीय एवं तकनीकी संसाधनों का अभाव- सभी मिलकर पर्यावरण पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। अधिकतम सम्भव मुनाफा कमाने के लालच में किया गया प्राकृतिक संसाधनों और औद्योगिक क्षमताओं का पूँजीवादी दोहन भी पर्यावरण के विनाश में बड़ी भूमिका निभाता है और नये-नये तरीकों से वायुमण्डल का प्रदूषण और क्षरण करता है। विकसित देशों में विवेकहीन उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने वाली और फिर से नवीनीकृत न होने वाले संसाधनों की बर्बादी और विनाश को प्रोत्साहित करने वाली जीवनशैलियाँ मौजूद हैं, जो स्थानीय और वैश्विक स्तर पर, भौतिक पर्यावरण के संकटों और तनावों को अभूतपूर्व और अकल्पनीय स्तर तक बढ़ा देती हैं।

अपने इतिहास में पहली बार मानवता जैव जीवन-तन्त्रों के परस्पर सन्तुलन को बदलने में सक्षम हो गयी है और इस ग्रह पर क्रमिक विकास को संचालित करने वाले

प्राकृतिक नियमों में हस्तक्षेप करने में भी समर्थ है। परमाणु युद्ध के द्वारा एक झटके में पूरी दुनिया को नेस्तनाबूद किया जा सकता है। प्राकृतिक तौर पर सहस्त्राब्दियों में जाकर पूरा होने वाला प्रजातियों का क्रमिक विकास जीन इंजीनियरिंग के जरिय त्वरित गति से सम्पन्न करवाया जा सकता है। पहली बार मानवता जीवन की दिशा को बदलने में समर्थ है।

पर्यावरण को सीधे प्रभावित करके वह पहले से ही इस काम को कर रही है। प्राकृतिक पर्यावरण पर मानवजाति के विवेकहीन हमले के उत्तरोत्तर और ज्यादा स्पष्ट होते प्रभाव- जिनका अभी हाल तक धनी समाजों की तात्कालिक चिन्ताओं से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं होता था- आज महज सुदूर भविष्य का खतरा नहीं रह गये हैं बल्कि सभी राष्ट्रों के लिए एक साझी सच्चाई बन चुके हैं।

यही वजह है कि हम यहाँ रियो डि जिनेरो में एकत्र हुए हैं। पर्यावरण के गम्भीर संकटों की चेतना- जिन्हें सबसे प्रत्यक्ष आसन्न और विध्वंसक रूप में यद्यपि इस ग्रह पर रहने वाली आबादी का सबसे गरीब और सबसे कमजोर हिस्सा महसूस करता है- तीसरी दुनिया की भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों की सीमाओं के बाहर तक फैलने लगी है। अब यह खतरा पूरी मानवजाति को प्रभावित करने वाले खतरे का रूप ले चुका है। यह धारणा बलवली होती जा रही है कि यदि मानवजाति समय रहते आवश्यक कदम नहीं उठाती तो यह अपने को इस ग्रह पर अस्तित्वमान सम्पूर्ण जीवन के विनाश के कगार पर खड़ा पायेगी।

तीसरी दुनिया का एक छोटा सा देश क्यूबा अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना विकास करने के लिए संघर्ष कर रहा है। तिस पर भी, हम आमतौर पर पूरी दुनिया और खासतौर पर अल्प-विकसित दुनिया के सामने पर्यावरण संरक्षण और सुरक्षा के अपने अनुभवों को बाँटने का विनम्रतापूर्ण प्रस्ताव पेश करते हैं। हमारी जनता द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में हासिल किये गये उन निष्कर्षों को भी हम यहाँ पेश करेंगे जो इस बैठक में होने वाली बहसों से सीधे जुड़े हुए मुद्दों से सम्बन्धित हैं।

इस अवसर पर हम अपने साथी देश ब्राजील गणराज्य की सरकार और उसके सम्भावित राष्ट्रपति फर्नाण्डो कोलोर डिमेलो के लिए अपना सम्मान व्यक्त करना चाहेंगे जिन्होंने इस सम्मेलन को आयोजित करने का उदात्त कार्य अपने हाथ में लिया। साथ ही इस सम्मेलन में हिस्सेदारी के लिए हमें बुलाने के स्नेह भरे निमन्त्रण के लिए भी हम व्यक्तिगत तौर पर धन्यवाद देते हैं। मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि क्यूबा इस बैठक में इस दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ आया है कि हमें साथ लाने वाले इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वह पूरे जी जान से अपनी भूमिका निभायेगा। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इन उद्देश्यों

को हासिल करने की दिशा में किये गये हमारे तमाम प्रयास ही हमारे भविष्य की ठोस गारण्टी बनेंगे।

पर्यावरण सम्बन्धी बहस का चरित्र और उसका महत्व

पिछले दो दशकों के दौरान दुनिया के बहुत से हिस्सों में पर्यावरण का मुद्दा सैद्धान्तिक बहसों और निर्णय प्रक्रियाओं की परिधि से खिसक कर एकदम केन्द्र में जगह बना चुका है। पर्यावरण सम्बधी मुद्दों पर विशद् साहित्य में, जिसका हमारे समय में प्रचुर मात्रा में उत्पादन हुआ है, पर्यावरण को लेकर होने वाली बहसों और पर्यावरण सम्बन्धी आन्दोलन के अन्तरराष्ट्रीयकरण को अक्सर पिछले कुछ सालों के दौरान घटी एक विकास प्रक्रिया के परिणाम के तौर पर देखा जाता है। दुनिया के स्तर पर चेतना की इस वृद्धि का निर्धारण करने वाली एक परिघटना रही है– बढ़ती हुई संख्या में पर्यावरण सम्बन्धी गैर सरकारी संगठनों का आविर्भाव और सक्रियता। इनमें से कुछ अपने उग्रवादी चरित्र और अपने तेजी से बढ़ते प्रभाव के लिए जाने जाते हैं।

इस बढ़ती हुई जागरुकता की जड़ में स्पष्टत: यह तथ्य है कि मानवजाति के लिए सबसे चिन्ताजनक कुछ विश्वस्तरीय पर्यावरणसम्बन्धी समस्याओं के वास्तविक और सम्भावित प्रभाव पिछले 20 वर्षों के दौरान बहुत स्पष्ट हो चुके हैं। इनमें ओजोन परत का क्षरण, तथाकथित ग्रीन हाऊस प्रभाव के कारण दुनिया का बढ़ता तापमान, अम्लीय वर्षा, सबसे विकसित देशों के फिजूलखर्ची को बढ़ावा देने वाले उपभोक्ता मॉडलों द्वारा किये गये अन्य प्रकार के पर्यावरण के नुकसान, जैवविविधता में भारी कमी, शहरों की भीमकायता के कारण होने वाला प्रदूषण, खतरनाक कचरे का सीमापार से होने वाला आवागमन, जमीन के नीचे और ऊपर के पानी के भण्डारों का प्रदूषण, समुद्र और तटीय इलाकों का प्रदूषण, वनों की कटाई और कृषि भूमि की उर्वरता कम होना शामिल है। इन सभी बहुत गम्भीर समस्याओं के बीच एक और तथ्य भी है जो हालाँकि पर्यावरण सम्बन्धी समकालीन बहस में तो कुछ खास मददगार नहीं है लेकिन फिर भी इस बहस में अग्रिम पंक्ति में मौजूद है, वह यह कि सभी जीवधारियों में से खुद मानवजाति ही सबसे ज्यादा खतरे में पड़ी प्रजाति है, खासकर कि तीसरी दुनिया के बड़े इलाकों में जहाँ आबादी का विशाल बहुलांश भयंकर गरीबी की स्थिति में गुजारा करता है।

हर कोई जानता है कि पिछला दशक पिछले 100 सालों के दौरान सबसे गर्म दशक रहा है, कि मानवजाति के 7 सबसे गर्म सालों में से 6 साल इसी दशक में शामिल थे, कि लिखित इतिहास का सबसे गर्म साल 1990 का साल था। विश्व का तापमान बढ़ने की परिघटना जो ''ग्रीन हाऊस प्रभाव'' का नतीजा है, पर्यावरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण

आर्थिक और सामाजिक परिणामों को जन्म देने वाली है। कुछ अनुमानों के मुताबिक यदि ग्रीन हाऊस प्रभाव पैदा करने वाली गैसों के उत्सर्जन के वर्तमान स्तर को सीमित नहीं किया गया तो अभी से लेकर 2025 के बीच कभी भी कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा दोगुनी हो जायेगी जिससे दुनिया के औसत तापमान में 1.5 से 4.5 डिग्री सेल्सियस की बढ़ोत्तरी हो जायेगी। इस परिघटना का तात्कलिक प्रभाव होगा – सन 2050 तक समुद्रतल में 30 से 50 सेण्टीमीटर के बीच और 2100 तक 1 मीटर की वृद्धि। इससे महाद्वीपों के समुद्रतटीय इलाकों के बड़े हिस्से बाढ़ में डूब जायेंगे जिनमें से कुछ घनी आबादी वाले इलाके हैं। यह बाढ़ बहुत से द्वीप-राष्ट्रों को भी प्रभावित करेगी। अन्य भविष्यवाणियाँ अल्पकालिक है और ज्यादा चिंताजनक हैं।

अन्य बातों के अलावा मौसम में होने वाले परिवर्तन भी बरसात और समुद्री पर्यावरणतन्त्र में बदलावों को जन्म देंगे और प्रभंजनों (हरीकेन), उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों और समुद्री तूफानों (टाइफून) के आने की सम्भावना बढ़ा देगे। इस तरह, शीतोष्ण इलाकों में मलेरिया, डेंगू और पीले बुखार जैसी उष्ण कटिबन्धीय इलाकों में होने वाली बीमारियाँ और ज्यादा फैलने लगेंगी और उस इलाके की बहुत सी फसलें भी बुरी तरह प्रभावित होंगी जैसा कि गेहूँ के मामले में हुआ।

यह गणना की गयी है कि समताप मण्डल में 1979 और 1986 के बीच ओजोन का औसत वैश्विक स्तर लगभग 5 प्रतिशत गिर गया। 1980 के दशक के मध्य में दक्षिण ध्रुवीय (अण्टार्कटिक) महासागर के ऊपर ओजोन परत में छेद पाया गया और हाल में कुछ वैज्ञानिक रिपोर्टें बताती हैं कि उत्तर ध्रुवीय (आर्कटिक) महासागर के ऊपर भी एक और छेद बन जाने की परिस्थितियाँ मौजूद हैं। ओजोन परत के खत्म होने से ग्रह पर रहने वाले जीवधारियों की हानिकारक पराबैंगनी किरणों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जायेगी जिसके कारण त्वचा कैंसर, नेत्र रोग तथा अन्य बीमारियों के प्रकोप बढ़ जाने का एक बहुत बड़ा खतरा हमारे सामने आयेगा। साथ ही पशुधन और कुछ फसलों को भी स्पष्ट रूप से हानि पहुँचेगी।

वह सापेक्ष गति जिससे अन्तरराष्ट्रीय जगत में बातचीत के जरिये समझौते की ओर बढ़ने की प्रक्रियाएँ आगे बढ़ी हैं और ओजोन परत को नुकसान पहुँचाने वाली क्लोरो-फ्लोरो कार्बन और अन्य गैसों के प्रयोग और उत्पादन को घटाने और अन्तत: उनका पूर्ण उन्मूलन करने के लिए ठोस समझौते किये गये हैं, सिर्फ ओजोन परत के समाप्त होते जाने के बारे में विकसित देशों के सरोकार को ही नहीं दर्शाती है। वह इस प्रक्रिया को कुछ सुझाए गये तकनीकी रूपान्तरणों के रास्ते ही आगे ले जाने और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर इसकी तकनीक के हस्तान्तरण पर नियन्त्रण कायम करने की इन देशों में मौजूद एक निश्चित आर्थिक वर्ग की लालसा को भी दर्शाती है। कारण कुछ भी हो सकते हैं, लेकिन इस सम्मेलन में एक सर्वस्वीकृत अवस्थिति पर पहुँचना जरूरी होगा क्योंकि इससे पर्यावरण सम्बन्धी उन

समस्याओं का मुकाबला करने के लिए ठोस और प्रभावी कदम उठाने का हमारा रास्ता खुलेगा जो ओजोन परत के क्षरण से कम चिन्ताजनक नहीं हैं और जिनके तत्काल समाधान की उससे भी ज्यादा जरूरत है।

1960 और 1985 के बीच सल्फर डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन सालाना 70 लाख टन से बढ़कर 15 करोड़ 50 लाख टन हो गया जो अम्लीय वर्षा के प्रमुख कारणों में से एक है। बहुत से मामलों में अम्लीय वर्षा हवा के बहाव के कारण प्रदूषण के स्रोत से, बहुत दूर-दराज इलाकों तक चली जाती है। इस परिघटना ने सबसे ज्यादा यूरोप, उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका, चीन और अफ्रीका में दसियों हजार नदियों और झीलों के पानी के रासायनिक संघटन को बदल डाला है, उनमें जीवन की सम्भावना ही समाप्त कर दी है और फसलों और जंगलों को भी गम्भीर नुकसान पहुँचाया है।

ऐसी और भी विभिन्न किस्म की समस्याएँ हैं जो न सिर्फ वायुमण्डल को नुकसान पहुँचाती हैं बल्कि हमारे ग्रह की मिट्टी और पानी को भी प्रदूषित करती हैं। इनमें से बहुत सारी समस्याएँ इतनी नयी नहीं हैं, लेकिन खासतौर पर अल्पविकसित देशों में प्राकृतिक संसाधनों की बर्बादी और मनुष्यों की जान के रूप में हमें उनकी भारी कीमत चुकानी पड़ी है। पर्यावरण को सुरक्षित रखते हुए विकास करने के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा के तौर पर गरीबी को चिह्नित किया जाता है जबकि विश्व की गरीब आबादी का बहुमत पर्यावरण के लिहाज से बहुत ही संवेदनशील इलाकों में निवास करता है– लातिन अमरीका के 80 प्रतिशत एशिया के 60 प्रतिशत और अफ्रीका के 50 प्रतिशत गरीब इन्हीं हालात में रहते हैं।

अल्पविकसित देशों में आज पीने के पानी की गुणवत्ता और उसके वितरण की समस्या प्रधान बनी हुई है। भूमि के कटाव के चलते पूरी दुनिया में हर साल 2 करोड़ हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि नष्ट हो जाती है। इस समय रेगिस्तान 60 लाख हेक्टेयर प्रति वर्ष की रफ्तार से फैलते जा रहे हैं। 3 अरब 50 करोड़ हेक्टेयर उर्वर भूमि जो करीब-करीब अमरीकी महाद्वीप के बराबर बैठती है रेगिस्तान बनती जा रही है। इसमें से एक-तिहाई भूमि का तो बहुत तेजी से रेगिस्तानीकरण हो रहा है। संयुक्त राष्ट्र के मुताबिक यह 85 करोड़ लोगों की जीविका के लिए गम्भीर खतरा है। खाद्य और कृषि संगठन (एफ. ए. ओ.) के ताजा आँकड़ों के मुताबिक उष्ण-कटिबन्धीय इलाकों में वनों का कटाव जो 1980 में सालाना 1 करोड़ 13 लाख हेक्टेयर था बढ़कर 1990 में 1 करोड़ 70 लाख हेक्टेयर हो गया है। इन प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ जैव विविधता का नुकसान हमारे लिए गहरे सरोकार का विषय है। महासागरों, समुद्रों और तटवर्ती इलाकों के प्रदूषण और इनमें रहने वाले जीवित संसाधनों के विनाश का खतरा भी पर्यावरण की एक अन्य गम्भीर समस्या है।

खतरनाक कचरे के एक देश से दूसरे देश में निर्यात के बारे में भी विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। विशेष रूप से तब यह जरूरत और बढ़ जाती है जब यह कचरा उन अल्पविकसित देशों में पहुँचाया जाता है जिनके पास इस कचरे को हिफाजत से ठिकाने लगाने के साधन भी मौजूद नहीं होते। अनुभव यह दिखाता है कि इसका कोई ऐसा सरलीकृत समाधान नहीं हो सकता कि कचरे के यातायात को महँगा कर दिया जाय ताकि कचरे का उत्पादन करने वाले उद्योगों के लिए उसका उत्पादन घटाना ज्यादा सुविधाजनक हो जाये।

यदि पर्यावरण की बर्बादी का एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया जाय तो यह समझना महत्वपूर्ण होगा कि दुनिया के पर्यावरण को सबसे ज्यादा नुकसान सबसे ज्यादा औद्योगीकृत देशों के विकास के तरीकों द्वारा पहुँचा है। दूसरी ओर गरीबी के वे हालात भी जिनमें दुनिया की अधिकांश आबादी रहती है, पर्यावरण पर गम्भीर प्रभाव डालते हैं। वे एक ओर गरीबी और अल्पविकास के बीच एक दुष्चक्र को जन्म देते हैं तो दूसरी ओर पर्यावरण के विनाश को।

अब जबकि टिकाऊ विकास की अवधारणा काफी हद तक फैल चुकी है, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि न तो ऊपर वर्णित उत्तर के विकास के मॉडल और न ही दक्षिण का अल्पविकास ऐसी अर्थव्यवस्थाएँ हैं जिन्हें पर्यावरण के हिसाब से टिकाऊ माना जाये। हालाँकि ये दोनों पहलू परस्पर सम्बद्ध हैं लेकिन फिर भी इन्हें एक ही नजरिये से देखना भूल होगी। यह हमें इस बेवकूफी की ओर ले जायेगा कि एक ओर विकसित देशों के नागरिक, जो तुलनात्मक रूप से बहुत ज्यादा वेतन पाते हैं और जिनको फिजूलखर्ची की आदत पड़ चुकी है और जो एक ऐसी जीवनशैली के अभ्यस्त हो चुके हैं जो संसाधनों को बर्बाद करती है, तथा दूसरी ओर अल्पविकसित दुनिया के किसी भी बहुत पिछड़े देश में रहने वाले एक गरीब बाशिन्दे, जिसकी रोज की चिन्ता लगातार दुर्लभ होते जाते उन संसाधनों का जुगाड़ करने की होती है जो उसके बच्चों और खुद उसे भूखों मरने से बचा सकें– हम दोनों के ऊपर पर्यावरण के विनाश की बराबर जिम्मेदारी डालें।

अल्पविकसित दुनिया की आबादी के दरिद्रीकरण के शिकार बहुत से हिस्सों के लिए यह बहुत कठिन है कि वे भावी पीढ़ियों की जरूरतों को पूरा करने पर विचार करें जबकि उनकी अपनी बहुत सारी तात्कालिक बुनियादी जरूरतों का न्यूनांश तक भी अभी पूरा नहीं हो पाया है। इस तरह तीसरी दुनिया के सामने मौजूद पर्यावरण की सबसे जरूरी चिन्ताएँ विकसित देशों की चिन्ताओं से बहुत अल्प किस्म की हैं।

सर्वाधिक विकसित देशों में जहाँ आमतौर पर जीवन की गुणवत्ता को ऊपर उठाने की फिक्र की जाती है, वहाँ ओजोन परत में छेद हो जाने और दुनिया का तापमान बढ़ने

जैसी परिघटनाओं के मध्यम और दूरगामी परिणामों को लेकर चिन्ता बढ़ रही है। तीसरी दुनिया के देशों में जहाँ कुछ जगहों पर शिशु मृत्यु दर प्रति 1000 जन्मों पर 115 मौतों के स्तर पर पहुँच जाती है, जहाँ हर साल 1 करोड़ 40 लाख बच्चे पाँच साल की उम्र तक पहुँचने के पहले ही काल कवलित हो जाते हैं, जहाँ 1 अरब से ज्यादा लोगों को सबसे प्राथमिक स्तर की इलाज की सुविधाएँ भी मयस्सर नहीं हैं, जहाँ औसत जीवन काल 63 साल से कम और सबसे गरीब देशों में 52 साल से भी कम है, जहाँ 30 करोड़ से ज्यादा बच्चे शिक्षा पाने के अधिकार से वंचित हैं, जहाँ लगभग 1 अरब प्रौढ़ लोग अनपढ़ हैं, जहाँ 1990 में 50 करोड़ लोग भुखमरी का शिकार थे और जहाँ 5 साल से कम उम्र के लगभग 18 करोड़ बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। वहाँ पर्यावरण के सम्बन्ध में अलग किस्म की प्राथमिकताओं की जरूरत है। तीसरी दुनिया में जीवन की गुणवत्ता नहीं बल्कि खुद जीवन और जीने का अधिकार ही खतरे में पड़ गया है। इन देशों में पर्यावरण के मुख्य सरोकार हैं– पानी की उपलब्धता, जलावन के लिए लकड़ी की कमी और कृषि भूमि का समाप्त हो जाना।

अल्पविकसित दुनिया के शिक्षा से वंचित अनपढ़ जनसाधारण के लिए पर्यावरण तन्त्र, जैव-विविधता, पर्यावरण की तबाही और ओजोन परत के क्षरण जैसे शब्दों का व्यावहारिक जीवन में भला क्या महत्व हो सकता है। वे करोड़ों लोग इन समस्याओं पर कैसे ध्यान दे सकते हैं जबकि घण्टे दर घण्टे, दिन दर दिन, सप्ताह दर सप्ताह और साल दर साल उनका जीवन किसी तरह जिन्दा रहने के पीड़ादायी और निराशाजनक संघर्ष में गर्क हो रहा है।

स्पष्ट है कि यदि हम आज की दुनिया को प्रभावित करने वाली पर्यावरण सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं का उन्मूलन करने का सच्चे दिल से प्रस्ताव करते हैं तो मानवजाति को दो प्राथमिक कदम उठाने होंगे। एक, उसे औद्योगीकृत देशों और अल्पविकसित देशों के उच्च आय वर्गों की फिजूलखर्ची भरी उपभोक्ता संस्कृति को हटाने के तरीके निकालने होंगे। इस संस्कृति की जगह एक ऐसी जीवन शैली को स्थापित किया जा सकता है जिससे अपने मौजूद भौतिक सुखों का त्याग किये बिना भी संसाधनों का ज्यादा तार्किक ढंग से इस्तेमाल किया जा सके और पर्यावरण का नुकसान भी काफी हद तक कम किया जा सके, जो इस संस्कृति के कारण आज दुनिया में लगभग सभी जगहों पर हो रहा है। दूसरा कदम होगा तीसरी दुनिया को सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में और परिणामस्वरूप आबादी के दरिद्रीकरण के शिकार लोगों की जीवन दशाओं में क्रान्तिकारी बदलाव के लिए तैयार करना। अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की मौजूदा व्यवस्था और अधिकतर अल्पविकसित देशों में रहने वाले भूखे, बीमार, उजड़े हुए और अज्ञान के शिकार लोगों के विभिन्न

संस्तरों को बनाये रखने में योगदान करने वाले सामाजिक-आर्थिक ढाँचों के रूपान्तरण के जरिये ही हम इस उद्देश्य को हासिल कर सकते हैं।

यही एकमात्र रास्ता है जिसके जरिये हम 21वीं सदी की प्रमुख वैश्विक पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं के पूर्ण समाधान की आशा कर सकते हैं। हम एक ऐसी दुनिया बनाने की दहलीज पर खड़े हैं। लेकिन इसके लिए हर देश में और देश के भीतर हर स्तर पर पर्यावरण की इन समस्याओं के कारणों के बारे में एक आम वैश्विक जागरुकता की जरूरत होगी। इससे वह राजनीतिक इच्छाशक्ति और अपरिहार्य अन्तरराष्ट्रीय सहयोग पैदा होंगे जिनकी इन समस्याओं से प्रभावी ढंग से निपटने के लिए जरूरत है। इस बीच किये जाने वाले सभी प्रयासों का अपना महत्व है और उन्हें प्रोत्साहन और समर्थन मिलना चाहिए। लेकिन अंततः यह वैसा समाधान नहीं है जिसकी हमारे बच्चों को जरूरत है और जिसकी वे हमसे अपेक्षा करते हैं। यदि हम समय रहते कोई कदम नहीं उठाते तो इन अभागों के लिए विरासत में एक ऐसा ग्रह छोड़कर जायेंगे जो अन्ततः रहने लायक नहीं होगा।

अल्पविकास और पर्यावरण के विनाश का दुष्चक्र

जैसा कि बारम्बार दर्शाया गया है पर्यावरण के क्षरण की सार्वभौमिक परिघटना की अपनी लाक्षणिक विशेषताएँ और अपने उद्‌गम हैं, साथ ही, उसके ज्यादा गम्भीर परिणाम तीसरी दुनिया के देशों को भुगतने पड़ रहे हैं। इन देशों में टिकाऊ विकास का प्रयास दरअसल खुद विकास के लिए ही प्रयास है। यहाँ विकास को सिर्फ उत्पादन में बढ़ोत्तरी के अर्थ में नहीं बल्कि जनता के जीवन की गुणवत्ता को ऊपर उठाने और उत्तरोत्तर नये नैतिक मूल्य गढ़ने के उद्देश्य से किये गये आर्थिक और सामाजिक ढाँचों के रूपान्तरण के रूप में समझा जाना चाहिए।

विकास की ठीक यही प्रक्रिया दक्षिण में पूरी तरह ठहराव की शिकार है। ऐसा अकस्मात घटी किन्हीं घटनाओं या परिस्थितियों के कारण नहीं बल्कि कुछ खास किस्म के अन्तर्निहित सामाजिक सम्बन्धों और उत्पादन को संगठित करने के कुछ खास तरीकों के कारण है। यदि आप अपने दिमाग पर जोर देने को तैयार हों तो आप पायेंगे कि गरीबी और पिछड़ेपन की यह स्थिति विकास के इस मॉडल को सबसे ज्यादा अस्थिर करने वाला पहलू है।

1980 के दशक में शुरू हुए आर्थिक-सामाजिक संकट ने उन कारकों को बहुत तेजी से आगे बढ़ाया जो मानव-पर्यावरण के लिए तात्कालिक और भावी खतरा हैं– ऐसा मुख्यतः अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के और बिगड़ने के कारण हुआ।

तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाएँ आज भी प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन

पर निर्भर हैं। पिछले कुछ सालों में इन देशों के कुल निर्यात में बुनियादी मालों, जिनमें पेट्रोलियम भी शामिल है, का हिस्सा 45 फीसदी था। अफ्रीकी देशों के मामले में यह सबसे ज्यादा, लगभग 90 फीसदी था।

पिछले पूरे दशक में इन अर्थव्यवस्थाओं की पूँजी को व्यापार और वित्त दोनों के जरिये नाटकीय तरीके से उजाड़ा गया है। परिणामस्वरूप उन्होंने टिकाऊ आर्थिक विकास के अपने अवसरों को खत्म होते देखा है। मैं यह बात अनियन्त्रित जनसंख्या वृद्धि के सन्दर्भ में कह रहा हूँ इसलिए पिछले तीन दशकों के दौरान अल्पविकसित देशों के सकल घरेलू उत्पाद में औसत सालाना बढ़ोत्तरी के आँकड़े एक गिरावट को दर्शाते हैं। 1961 से 1973 के बीच यह वृद्धि दर 6.1 फीसदी थी जो 1983 से 1990 के बीच घटकर महज 2.8 फीसदी रह गयी। इसी तरह की प्रवृति प्रति व्यक्ति आँकड़ों में भी देखी जा सकती है। 1961 और 1970 के बीच प्रति व्यक्ति आमदनी में वृद्धि की दर सालाना 3.3 फीसदी थी जो 1980-90 के बीच गिरकर मात्र 0.1 फीसदी रह गयी।

निस्संदेह, उत्तर और दक्षिण की अर्थव्यवस्थाओं के बीच, और यहाँ तक कि खुद दक्षिण के देशों के बीच भी, आय की निरन्तर गहरी होती जाती खाई इस संकट से जुड़ी एक अन्य परिघटना है जिसने पर्यावरण के क्षरण को और भी बदतर बना दिया है। 1960 में दुनिया के सबसे अमीर 20 फीसदी लोगों की आय सबसे गरीब 20 फीसदी लोगों की आय से 30 गुना ज्यादा थी जो 1990 तक आते-आते 60 गुना ज्यादा हो गयी। अल्पविकसित देशों में सबसे धनी वर्गों की तादाद अब कुल आबादी के 10 से 15 फीसदी के बीच है जबकि वे अधिकांश आर्थिक और प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा जमाये हुए हैं। लातिन अमरीका में 95 फीसदी कृषि योग्य जमीनें केवल 10 फीसदी आबादी के कब्जे में हैं।

तीसरी दुनिया के देश आमतौर पर बुनियादी मालों के निर्यात तक सीमित हैं और विकसित राष्ट्रों के बाजारों में लगातार घटती अपनी पैठ के चलते वे समस्याओं का सामना कर रहे हैं। अन्य कारकों के अलावा, अधिक आक्रामक संरक्षणवादी नीतियाँ और साथ ही, इन मालों की कीमतों और लोगों की क्रयशक्ति में लगातार गिरावट होना भी इसके लिए जिम्मेदार है। 1980 और 1991 के बीच अल्पविकसित देशों द्वारा निर्यात किये जाने वाले 33 बुनियादी मालों के, जिनमें ईंधन शामिल नहीं है, औसत मूल्य सूचकांक में 50 फीसदी की गिरावट दर्ज की गयी। हालाँकि इसके भावी प्रदर्शन की भविष्यवाणी करना मुश्किल है, लेकिन विश्वबैंक के अनुमान के मुताबिक यह गिरावट 1995 तक इसी रफ्तार से जारी रहेगी। ठोस रूप में कुछ विश्लेषकों ने इन उत्पादों की वर्तमान कीमतों को सदी की शुरुआत की कीमतों के तुल्य बताया है और कुछ ने 19वीं सदी के मध्य की कीमतों के समतुल्य।

24 औद्योगीकृत देशों के एक नमूने की जाँच करने पर यह पाया गया कि इनमें से

20 अब से 10 साल पहले की तुलना में ज्यादा संरक्षणवादी हो गये हैं। अल्पविकसित देशों को इस संरक्षणवाद की भारी कीमत चुकानी पड़ी है। निर्यात में होने वाले इस नुकसान के कारण उन्हें सालाना 75 अरब डालर का सकल राष्ट्रीय उत्पाद गँवाना पड़ रहा है।

1980 के दशक के तथाकथित विदेशी ऋण संकट के युग में इन देशों की ओर होने वाले वित्तीय संसाधनों के प्रवाह में नाटकीय गिरावट दर्ज की गयी। देशों का यह समूह कई दशकों से अपने सबसे जरूरी निवेशों के कम से कम एक हिस्से के लिए इस पर निर्भर करता था। खास तौर पर, आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओ.ई.सी.डी.) के देशों की ओर से विकास के लिए आर्थिक सहायता के नाम पर इन देशों को उपलब्ध करवाये जाने वाले संसाधनों का वर्तमान प्रवाह उन देशों द्वारा प्रस्तावित सहायता के लक्ष्य– सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 0.7 फीसदी– के आधे से भी कम है। 1990 में अल्प विकसित देशों ने विकास के लिए आधिकारिक सहायता के नाम पर मुश्किल से 44 अरब डालर ही प्राप्त किये जबकि उन्होंने विदेशी ऋणों की किश्तों और ब्याज के रूप में पिछले 4 सालों में 165 अरब डालर से अधिक का भुगतान किया। हाल की गणनाओं के आधार पर सालाना किश्त और ब्याज का भुगतान 1300 अरब डालर से भी ज्यादा हो गया है।

इस तरह, अल्पविकसित देशों को आज विदेशी कर्ज की किश्त और ब्याज के रूप में उन्हें प्राप्त होने वाली आधिकारिक विदेशी सहायता का तीन गुना चुकाना पड़ता है। अन्तिम परिणाम कितना विरोधाभासी है– ये देश पूँजी के शुद्ध निर्यातक हो गये हैं और पहले की तुलना में पिछले दशक के दौरान सालाना 40 से 50 डालर अधिक पूँजी इन देशों से निकलकर धनी देशों में जा चुकी है।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) की गणना के मुताबिक 1990 में तीसरी दुनिया में 1 अरब 20 करोड़ लोग गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे थे। आने वाले समय में दक्षिण में आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति लगातार बिगड़ती जायेगी और इस कदर बुरी होगी कि शताब्दियों के पिछड़ेपन और बार-बार आने वाले आर्थिक संकट के चलते बढ़ती गरीबी के अन्य परिणामों को उलटने या किसी तरह भी उनकी रोक-थाम कर पाने की सम्भावना कम से कमतर होती जायेगी। इनमें नियन्त्रण से बाहर होती जनसंख्या वृद्धि और बेरोकटोक बढ़ता शहरीकरण शामिल है जो तीसरी दुनिया की विशेषताएँ हैं।

औद्योगीकृत देशों में 1960 और 1990 के बीच हुई जनसंख्या में 0.8 फीसदी की औसत सालाना वृद्धि के बरक्स अल्प विकसित देशों में इसी दौरान 2.3 फीसदी की दर से वृद्धि दर्ज की गयी। 1990-2000 के बीच अल्पविकसित देशों में यह बढ़ोत्तरी करीब 2 फीसदी की दर से जारी रहेगी जबकि विकसित देशों में तुलनात्मक दर 0.5 फीसदी

रहेगी। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अगले 10 वर्षों में जनसंख्या में होने वाली 90 फीसदी बढ़ोत्तरी अल्प विकसित दुनिया में होगी।

साथ ही, ग्रामीण आबादी के निरन्तर शहरों की ओर पलायन के कारण अल्पविकसित राष्ट्रों में शहरीकरण और त्वरित गति से बढ़ता जा रहा है। 1960 और 1990 के बीच तीसरी दुनिया की शहरी आबादी औसतन 4 फीसदी सालाना की दर से बढ़ी जबकि विकसित राष्ट्रों में यह केवल 1.4 फीसदी की दर से बढ़ रही थी।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) के एक अनुमान के मुताबिक 1990–2000 के बीच अल्पविकसित देशों में आबादी के शहरों की ओर पलायन की यह गति इसी प्रकार बनी रहेगी जबकि विकसित देशों में यह घटकर 0.8 फीसदी सालाना रह जायेगी। इसका मतलब सन 2000 तक 1 करोड़ से ज्यादा की आबादी वाले 24 शहरों में से 18 और 1 करोड़ 50 लाख से अधिक आबादी वाले कुल 6 शहरों में से 4 शहर अल्प विकसित देशों में स्थित होंगे।

यह याद रखना जरूरी है कि अल्पविकास के हालात में शहरीकरण एक खास अर्थ ग्रहण कर लेता है। अपर्याप्त बुनियादी ढाँचे के चलते शहरों में बसाव का अव्यवस्थित रूप से विकास होता है जो मुख्यत: झोपड़पट्टी के रूप में हमारे सामने आता है। परिणामस्वरूप पर्यावरण के प्रदूषण और क्षरण के महत्वपूर्ण स्रोतों का सृजन होता है।

इन परिस्थितियों में यह निहायत जरूरी हो जाता है कि दुनिया के सभी बाशिंदों को पर्याप्त पोषण की गारण्टी करने की गम्भीर चुनौती को हाथ में लिया जाये और दुनिया के पर्यावरण को ज्यादा नुकसान पहुँचाये बिना यह काम हो। आज तक जो सम्भव नहीं हो सकता था, उसे हासिल करने के लिए आज बहुत भारी अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक इच्छा शक्ति की जरूरत होगी। क्योंकि आज दुनिया के 60 फीसदी लोग उन देशों में रहते हैं जहाँ आमदनी कम और भोजन की आपूर्ति अपर्याप्त है।

तीसरी दुनिया की गरीबी का पर्यावरण के क्षरण से नजदीकी रिश्ता है। इन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ मुख्यत: प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर आधारित हैं, लेकिन इन संसाधनों का समुचित तरीके से दोहन करने के लिए आवश्यक वित्तीय और तकनीकी उपलब्धता का इन देशों में अभाव है जिसकी वजह से इन देशों के सामने अक्षरश: अपने संसाधनों के अत्यधिक दोहन के अलावा गुजारा करने का कोई और रास्ता नहीं बचता। पर्यावरण की तेजी से बिगड़ती स्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों और तकनीक के अभाव के कारण यह कुप्रबन्ध और भी ज्यादा गरीबी को जन्म देता है।

इन दोनों परिघटनाओं के बीच फँसकर यह एक अमानवीय दुष्चक्र को जन्म देता है। खाद्य और कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) के शब्दों में, संसाधन ही जीवन का आधार हैं

जिन्हें नष्ट किया जा रहा है। अज्ञान के कारण नहीं बल्कि सिर्फ एक और दिन जी लेने भर के लिए।

पर्यावरण के क्षरण को और ज्यादा बढ़ाने में, खासकर 1980 के दशक में, अल्पविकास की समस्याओं, पिछड़ेपन, प्राकृतिक महाविपदाओं और अल्पविकसित दुनिया में चल रहे हथियारबन्द संघर्षों ने भी अपनी भूमिका निभायी कुछ देशों से लोगों के बड़े पैमाने पर अन्य देशों में जाकर बसने या एक ही देश में कुछ स्थानों को छोड़कर अन्य स्थानों पर जा बसने के परिणामस्वरूप कुछ इलाकों में प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन होने के कारण यह क्षरण और भी तीव्र हो गया है। साथ ही, आमतौर पर इन मामलों में पर्यावरण की सुरक्षा के लिए कोई कदम नहीं उठाये गये हैं जिससे स्थिति और बदतर हो गयी है।

पर्यावरण पर पड़ने वाले इस परिस्थिति के सबसे गम्भीर प्रभाव हैं– मिट्टी की उर्वरता का ह्रास, रेगिस्तानीकरण, बाढ़ और सूखा, साफ पानी के स्रोतों का समाप्त हो जाना, मिट्टी का कटाव, वनों का कटाव, जैव-विविधता का नाश और साथ ही घने शहरी इलाकों की अनियन्त्रित वृद्धि। वर्तमान परिस्थिति मानव पर्यावरण पर 1972 में हुए सम्मेलन के समय आँकी गयी परिस्थिति से कहीं ज्यादा बुरी है।

आज लगभग एक अरब तीस करोड़ लोगों– या तीसरी दुनिया की आबादी के करीब 30 फीसदी– को पीने का साफ पानी उपलब्ध नहीं है। 2 अरब 20 करोड़ से ज्यादा लोगों के लिए साफ-सफाई की समुचित व्यवस्था नहीं है। ग्रामीण इलाकों की स्थिति और भी विकट है। 1990 में इन देशों की केवल 63 फीसदी ग्रामीण आबादी को पीने का साफ पानी उपलब्ध था और केवल 49 फीसदी के लिए समुचित सफाई व्यवस्था थी। इसकी तुलना में 82 फीसदी शहरी आबादी के लिए साफ पानी और 72 फीसदी के साफ-सफाई का इन्तजाम था।

इसके अलावा भूमि की उर्वरता के क्षरण और जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप अल्पविकसित दुनिया में ऐसे लोगों की आबादी लगातार बढ़ती जा रही है जिसका पोषण अनुमानत: कृषि योग्य भूमि के एक हेक्टेयर से भी छोटे टुकड़ों पर होता है। तीसरी दुनिया के इन किसानों की पहुँच उन वित्तीय संसाधनों और तकनीक तक नहीं है जिनके जरिये वे अपने खेतों की उत्पादकता और फसलों की पैदावार इतनी बढ़ा सकें जितनी पहले से ही जोते जा रहे इन इलाकों में पर्याप्त उत्पादन बनाये रखने के लिए जरूरी है। स्पष्ट है कि इन किसानों के सामने मौजूद इस समस्या का एकमात्र तात्कालिक समाधान बस यही है कि वे कुछ और नये इलाकों में अपने उन्हीं पिछड़े हुए तरीकों से खेती शुरू करें। यह प्रत्यक्ष तौर पर पर्यावरण के नुकसान के कुछ सबसे खराब रूपों को जन्म देता है। तीसरी

दुनिया के कुछ और इलाकों में इसे तेजी से बढ़ाने वाली एक और परिघटना भी मौजूद है— बड़ी जोतों के तेजी से विस्तार के साथ छोटे किसानों का सबसे उपजाऊ जमीनों के इलाके से विस्थापन या इसके उलट जमीन का लगातार और भी छोटे व अनुत्पादक टुकड़ों में बँटते चले जाना। इस प्रकार एक और दुष्चक्र तीसरी दुनिया के बदहाल होते जा रहे किसानों को अपनी चपेट में लेता जा रहा है और उनके पास उससे बच निकलने का कोई सम्भव रास्ता दिखायी नहीं देता।

इसलिए पर्यावरण को बचाने— उसके संरक्षण और बेहतरी के लिए कोई कदम उठाने का अनिवार्यतः मतलब है आक्रोश से भर देने वाली इस गरीबी के कारणों के खिलाफ कार्रवाई करना, जो 21वीं सदी की पूर्वसंध्या पर भी तीसरी दुनिया को विनाश की ओर धकेलना जारी रखे हुए है। इसके लिए, निस्संदेह, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों की एक शृंखला की दरकार होगी। इसकी शुरुआत अल्पविकसित देशों के विदेशी कर्जों की समस्या का न्यायसंगत और चिरस्थायी समाधान करने और उपलब्ध आर्थिक एवं वित्तीय संसाधनों को विकास में लगाने से ही हो सकती है। आज पूर्वी यूरोप में समाजवाद का पतन और सोवियत संघ का विघटन हो चुका है। बहुतों के लिए इसका मतलब है शीत युद्ध की समाप्ति और राजनीतिक एवं सैनिक दृष्टिकोण से एक ध्रुवीय विश्वव्यवस्था का कायम होना। जाहिर है कि इसके चलते हथियारों पर होने वाला खर्च हालाँकि कुछ कम होना शुरू हुआ है लेकिन वह अभी भी बहुत ज्यादा है— सालाना 800 अरब डालर से भी ज्यादा। इसमें अल्पविकसित देशों का हिस्सा सालाना 120 अरब डालर से ज्यादा है। इसलिए यह भारी महत्व का सवाल है कि मानवजाति और प्रकृति का विध्वंस करने के लिए संसाधनों की यह अर्थहीन बर्बादी रोकी जाय और इसके बजाय उन्हें मानव जाति और अन्य प्रजातियों के संरक्षण और विकास में लगाया जाय।

गरीब और पिछड़ी दक्षिण की अल्पविकसित दुनिया और उत्तर की औद्योगीकृत दुनिया के बीच पर्यावरण के मामले में परस्पर निर्भरता लगातार और ज्यादा स्पष्ट होती जा रही है क्योंकि हमारे रहने के लिए सिर्फ एक ही ग्रह उपलब्ध है। पृथ्वी के पर्यावरण को बचाने के लिए अल्पविकसित देशों ने अपने खुद के दम पर भी संघर्ष किये हैं। फिर भी, इस संघर्ष की रणनीति बनाने के लिए पहले से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि पर्यावरण की समस्याओं को सामाजिक एवं आर्थिक विकास की समस्याओं से अलग करके देखा जाये।

इसके विपरीत, यदि हम भविष्य के लिए एक स्वस्थ पर्यावरण की गारण्टी करना चाहते हैं तो हमें इसका ध्यान रखना होगा कि अन्धाधुन्ध तरीके से पर्यावरण के दोहन पर जोर न दिया जाये जैसा कि तीन–चौथाई मानवता के विकास के अधिकार के प्रति उदासीन

रहकर अभी तक किया जाता रहा है। पर्यावरण के प्रति जिम्मेदारी की अलग–अलग श्रेणियाँ बनाकर हम इस भेदभाव को दूर कर सकते हैं। और इसे तरजीह देने वाला एक न्यायपूर्ण व्यवहार कायम कर सकते हैं जो अल्पविकसित देशों की जरूरी संसाधनों और तकनीक तक पहुँच सुनिश्चित करे ताकि वे इस प्रकार के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें।

विकसित देशों पर पर्यावरण-सम्बन्धी देनदारी

पर्यावरण और विकास की समस्याओं के समाधान की तलाश के लिए अल्पविकसित देशों ने एकीकृत प्रयासों की जरूरत पर जोर दिया है। उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के इस प्रकार पुनर्समायोजन की वकालत की है कि इन देशों की टिकाऊ विकास के कार्यक्रमों के लिए जरूरी वित्तीय संसाधनों और तकनीक तक पहुँच हो सके। इस परिप्रेक्ष्य में, पर्यावरण और विकास के मुद्दे पर होने वाली किन्हीं भी समझौता वार्ताओं की शुरुआत इस स्वीकृति के साथ होनी चाहिए कि औद्योगीकृत देशों पर एक पर्यावरण सम्बन्धी देनदारी बनती है।

कोई भी नेकनीयत इन्सान आज इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि विश्व के पर्यावरण के क्षरण के लिए मुख्यतः जिम्मेदार कारक है— सबसे विकसित समाजों द्वारा तैयार किया गया आर्थिक विकास का मॉडल, जिसे अपनी व्यवस्थाओं की आम राय बनाने की शक्ति और उनके प्रभाव का इस्तेमाल करके उन्होंने पूरी दुनिया में फैला दिया है। वर्तमान समय में पर्यावरण के मुख्य दुश्मन हैं— उपभोग करने के विवेकहीन उत्साह पर आधारित उनकी जीवनशैली और संसाधनों की एक बहुत ही बेतुके ढंग से की जा रही लूट।

आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओ.ई.सी.डी.) के सदस्य देशों में दुनिया की केवल 16 फीसदी आबादी रहती है जबकि उनका कुल क्षेत्रफल दुनिया के कुल क्षेत्रफल का 24 फीसदी है। उनकी अर्थव्यवस्थाएँ दुनिया के कुल सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 72 फीसदी पैदा करती हैं। दुनिया के कुल व्यापार का लागभ 76 फीसदी इनके जरिये होता है जिसमें रासायनिक उत्पादों के निर्यात का 73 फीसदी और लकड़ी के उत्पादों के आयात का भी लगभग उतना ही हिस्सा शामिल है।

साथ ही, ओ.ई.सी.डी. के सदस्य देश ही कार्बन डाई ऑक्साइड के कुल उत्सर्जन के 45 फीसदी, सल्फर डाई ऑक्साइड के कुल उत्सर्जन के 40 फीसदी और नाइट्रोजन ऑक्साइड के कुल उत्सर्जन के 50 फीसदी के लिए भी जिम्मेदार हैं। वे दुनिया के कुल औद्योगिक कचरे का 60 फीसदी और कुल खतरनाक कचरे का 90 फीसदी पैदा करते हैं। 1984 में अमरीका, यूरोपीय समुदाय और जापान की दुनिया में क्लोरो–फ्लोरो कार्बन के उत्पादन में कुल हिस्सेदारी 86 फीसदी थी जबकि तीसरी दुनिया के देशों की केवल 4.4 फीसदी।

ओ.ई.सी.डी. के सदस्य देश व्यावसायिक तौर पर उत्पादित कुल ऊर्जा के 52 फीसदी का उपभोग करते हैं जिसमें दुनिया के जीवाश्व ईंधनों के उपभोग का 50 फीसदी और तेल के उपभोग का 56 फीसदी शामिल है। ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाली गैसों का सबसे ज्यादा उत्सर्जन करने वाले 10 देशों में से 5 सबसे ज्यादा औद्योगीकृत देश हैं। यदि पूर्व सोवियत संघ के देशों को भी इसमें शामिल कर लिया जाये तो यह समूह कुल उत्सर्जन के 40 फीसदी से भी अधिक के लिए जिम्मेदार होगा। ग्रीन हाउस गैसों का सबसे ज्यादा उत्सर्जन करने वाले अमरीका की दुनिया के कुल उत्सर्जन में हिस्सेदारी 17.6 फीसदी है। ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने में विकसित देशों की तीसरी दुनिया के देशों से 4 गुनी ज्यादा हिस्सेदारी है।

ऐतिहासिक तौर पर, अल्पविकसित देशों में वनों की कटाई को बढ़ावा देने वाले और उससे मुनाफा कमाने वाले मुख्य रूप सें विकसित देश ही रहे हैं। औपनिवेशिक शासन के अधीन और उसके बाद, बड़ी पूँजीवादी ताकतों के आर्थिक विस्तार और तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों के नवऔपनिवेशिक शोषण के दौर में दुनिया भर में विशाल वन क्षेत्रों की अन्धाधुन्ध ढंग से कटाई की गयी। ऐसा इमारती लकड़ी प्राप्त करने और साथ ही इस वन भूमि को खेती योग्य भूमि में बदलने के लिए किया गया ताकि खाद्य पदार्थों और कच्चे मालों का उत्पादन करके उसे उन औद्योगीकृत देशों को निर्यात किया जा सके।

एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में इसका विश्लेषण करने पर हम इस अपरिहार्य नतीजे पर पहुँचते हैं कि तीसरी दुनिया के पर्यावरण के संचित नुकसान की जिम्मेदारी अन्तिम तौर पर विकसित पूँजीवादी दुनिया के ऊपर जाती है, और खास तौर पर उन देशों के ऊपर जाती है जो अफ्रीका, एशिया और लातिन अमरीका के देशों का औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक शोषण करने के कारण इतिहास की नजरों में इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं के पिछड़ेपन और विकृतियों के लिए जिम्मेदार हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यही देश तीसरी दुनिया के पर्यावरण की सबसे आम और सबसे विकट समस्याओं के लिए अन्तिम तौर पर जिम्मेदार रहे हैं और आज भी हैं।

कीटनाशकों, खादों और अन्य हानिकारक रासायनिक उत्पादों पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के बावजूद ये विकसित देश आज भी इनके मुख्य उत्पादक बने हुए हैं।

हालाँकि युद्ध और उसकी तैयारियों से अकेले औद्योगीकृत देश ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर जुड़े नहीं रहे हैं, लेकिन दुनिया में इन गतिविधियों पर खर्च होने वाले संसाधनों के विशाल भण्डार के उत्पादन और परिणामस्वरूप पर्यावरण के नुकसान और हमारे ग्रह के ऊपर कई इलाकों में पर्यावरण–तन्त्रों में आ रहे बदलावों की मुख्य जिम्मेदारी उन्हीं के ऊपर जाती है। अकेले वियतनाम युद्ध के दौरान ही वहाँ 80 हजार मीट्रिक टन से ज्यादा एजेण्ट ऑरेंज नामक खरपतवारनाशी रसायन गिराया गया जिसने वहाँ के भौतिक

वातावरण और मानव स्वास्थ्य के ऊपर बहुत ही विनाशकारी प्रभाव डाला। नाभिकीय विस्फोटों और दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप होने वाला रेडियोधर्मी प्रदूषण भी मुख्यत: औद्योगीकृत देशों से ही सम्बन्धित है। यह अनुमान लगाया गया है कि सबसे विकसित देशों में होने वाला 20 फीसदी औद्योगिक प्रदूषण सैन्य उत्पादन से जुड़े उद्योगों के कारण है। सैन्य उत्पादन के लिए आवश्यक अधिकांश खनिजों की तलाश और उनके प्रचुर मात्रा में उत्पादन का दूसरी खनन गतिविधियों की तुलना में पर्यावरण पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ता है।

जाहिर है कि विकसित पूँजीवदी समाजों के मुख्य लक्ष्यों– मुनाफे के सिद्धान्त, उपभोग की हवस और व्यक्तिगत खुशहाली का पर्यावरण के प्रति सरोकार से कोई मेल नहीं बैठता क्योंकि यही इन समाजों की मुख्य प्रेरक शक्ति होते हैं। उदाहरण के लिए परिवहन के मामले में, खासकर मोटरवाहनों और कारों जैसे वाहनों की संख्या में अनियन्त्रित वृद्धि होने के कारण, पर्यावरण की सुरक्षा के लिहाज से हासिल की गयी तकनीकी उपलब्धियाँ व्यर्थ साबित हुई हैं। दुनिया के महामार्गों पर चल रहे कुल वाहनों का 78 फीसदी औद्योगीकृत देशों में है।

बहुत से विकसित देशों में पर्यावरण को नियन्त्रण में रखने के लिए बनायी गयी नीतियों की बहुत सी खामियों में से एक यह है कि उनके कुछ नियामकों को अपने प्रयोजन और प्रयोग के मामले में अपने बनने के समय के पहले से लागू किया जाना है, जिसमें बहुत सी दिक्कतें हैं। इन देशों में अभी तक भी ऐसे लगभग एक लाख रसायनों का व्यावसायिक प्रयोग होता है जिनके बहुत ही खतरनाक प्रभाव हो सकते हैं। इन पर अभी तक इसलिए कोई रोक नहीं लगायी गयी क्योंकि वे सम्बन्धित कानून विशेष के बनने के पहले से ही अस्तित्व में थे। कुछ अन्य रासायनिक पदार्थ ऐसे भी हैं जिनका उपयोग इन देशों में प्रतिबन्धित कर दिया गया है लेकिन दुनिया के दूसरे इलाकों में उनके निर्यात की इजाजत है।

कुछ औद्योगीकृत देशों की आर्थिक विदेश नीतियों में पर्यावरण सुरक्षा के उपाय इस तरह से जोड़े गये हैं कि उनका अल्पविकसित देशों की अर्थव्यवस्था पर बहुत ही गम्भीर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, 1980 के दशक के मध्य से ही विकासशील देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के साथ यह शर्त लगाने की प्रवृत्ति बढ़ी है कि कथित तौर पर दोनों देशों को पर्यावरण की सुरक्षा की जिम्मेदारी मिलकर उठाने की आवश्यकता है। सच तो यह है कि विकसित देशों को तीसरी दुनिया के आर्थिक अल्पविकास और पर्यावरण के नुकसान की ऐतिहासिक जिम्मेदारी को स्वीकार करना चाहिए और उनकों सहायता की राशि का इसी आधार पर भुगतान करना चाहिए और उसे ऐसे उद्देश्यों से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए जो कभी पूरे नहीं हो सकते।

ऐतिहासिक तौर पर, विकसित देशों की भूमिका तीसरी दुनिया में प्रदूषण के निर्यातक की रही है। कुछ तकनीकों के चलते पर्यावरण को पहुँचने वाली क्षति को दूसरे देशों में स्थानान्तरित करने के लिए 1960 के दशक से ही यह तरीका काम में लाया जाता रहा है। प्रत्यक्ष तौर पर, औद्योगिक कचरे और दूसरे हानिकारक रासायनिक पदार्थों के निर्यात के जरिये और अप्रत्यक्ष तौर पर, अल्पविकसित देशों में अपने फिजूलखर्च उपभोक्तावादी मॉडल और आर्थिक ढाँचे थोपने और प्रदूषण फैलाने वाली तकनीक का निर्यात करने के जरिये यह किया जाता रहा है।

उत्तर से दक्षिण को किये जाने वाले प्रदूषण के सीधे निर्यात का एक तरीका है– तीसरी दुनिया में विषैले कचरे को भेजना। अल्पविकसित देशों की भयावह परिस्थितियों के बहाने अक्सर इन देशों के सामने यह प्रस्ताव पेश किया जाता है कि अगर वे उनके विषैले कचरे को स्वीकार कर लें तो बदले में उन्हें वे वित्तीय या अन्य संसाधन उपलब्ध करवायें जायेंगे जिनकी उनके यहाँ कमी है। अधिकांश मामलों में इसकी कोई गारण्टी नहीं होती कि प्राप्तकर्ता देश उसका समुचित इन्तजाम कर पायेंगे। कुछ दूसरे मामलों में, मूलतः औद्योगिकृत देशों में, प्रदूषण फैलाने वाली गैसों के उत्सर्जन के कारण होने वाली अम्ल वर्षा हवा के साथ बहकर ऐसे इलाकों में पहुँच जाती है जो प्रदूषण के स्रोत से बहुत दूर होते हैं। इसकी वजह से काफी अल्पविकसित देश भी इसके शिकार हो जाते हैं।

प्रदूषण फैलाने वाली तकनीक के अल्पविकसित देशों को स्थानान्तरण की प्रक्रिया के लिए मुख्यतः 1960 के दशक से ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ काफी हद तक जिम्मेदार रही हैं। निवेश के लिए संसाधन और तकनीक हासिल करने की आवश्यकता और दक्षिण के देशों द्वारा पिछले तीन दशकों के दौरान अपनाये गये या उनके ऊपर थोपे गये विकास के मॉडलों के कारण इन देशों में पर्यावरण के नियामक प्रायः बहुत ही ढीले–ढाले होते हैं। इस प्रकार वे इन प्रदूषण फैलाने वाली तकनीकों के आयात को बढ़ावा देते हैं। अल्पविकसित देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पर्यावरण के लिहाज से बहुत ज्यादा संवेदनशील क्षेत्रों में सक्रिय हैं जिनमें खनन, तेल के कुँए खोदना, कृषि व्यापार, रासयनिक उत्पाद तैयार करने और भारी धातुओं का शोधन करने के कारखाने और मोटरवाहनों का उत्पादन आदि जैसे क्षेत्र शामिल हैं।

सार में कहा जाये तो उत्तर का पर्यावरण का नुकसान पूँजीवादी विकास की एक लम्बी पीड़ादायी प्रक्रिया के तहत बड़े पैमाने पर दक्षिण को निर्यात किया जा चुका है। इसलिए ठीक इन कमजोर और अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में ही पर्यावरण की बदहाली के हानिकारक प्रभाव, गरीबी और आर्थिक निर्भरता के उच्च स्तरों के साथ मिलकर, इन राष्ट्रों की आर्थिक–सामाजिक भेद्यता को और बढ़ा देते हैं। अब यह विकसित और धनी दुनिया के ऊपर है कि वह अल्पविकसित और गरीब जनता के प्रति अपनी इन पर्यावरण

सम्बन्धी देनदारियों को चुकता करे और इसके लिए परस्पर सहयोग, वित्तीय और तकनीकी सहायता और पर्यावरण के लिहाज से स्वच्छ तकनीक का स्थानान्तरण करने का रास्ता अपनाये। ऐतिहासिक तौर पर यह एक न्यायसंगत कार्रवाई होगी और अन्ततः एक सद्भाव का प्रदर्शन होगा जो उनकी अपनी भविष्य की खुशहाली और विकास में योगदान करेगा।

विश्व का बढ़ता तापमान, अल्पविकास और ऊर्जा संकट

कुछ अनुमानों के मुताबिक ग्रीन हाऊस प्रभाव पैदा करने वाली 49 फीसदी गैसें ऊर्जा क्षेत्र से , 24 फीसदी उद्योगों से, 14 फीसदी वनों की कटाई के कारण और 13 फीसदी कृषि क्षेत्र से पैदा होती हैं। आज मानवजाति हर रोज लगभग 16 करोड़ 10 लाख बैरल पेट्रोलियम की खपत करती है जबकि 150 साल पहले दुनिया की खपत महज 80 लाख बैरल थी। यह अनुमान लगाया गया है कि सन 2010 तक ऊर्जा की माँग में 50 फीसदी से 60 फीसदी के बीच वृद्धि होगी।

जैसा कि हम सभी जानते हैं, ऊर्जा के उपभोग में जीवाश्म ईंधनों– कोयला, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस की प्रधानता इस क्षेत्र को ग्रीन हाउस प्रभाव के आधे के लिए जिम्मेदार बना देती है। दुनिया के कुल व्यावसायिक ऊर्जा के भण्डार का 90 फीसदी से अधिक इन जीवाश्म ईंधनों के कारण है। ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाली मुख्य गैस कार्बन डाई आक्साइड मानी जाती है– 70 फीसदी से ज्यादा मामलों में यह जीवाश्म ईधनों के प्रयोग से उत्पन्न होती है ऊर्जा क्षेत्र अकेले हर साल 21 अरब टन कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्पादन करता है।

परिणामस्वरूप, मौसम में होने वाले परिवर्तनों को नियन्त्रित करने के उपायों का मुख्य लक्ष्य ऊर्जा उत्पादन और उपभोग के मौजूदा तौर तरीकों का रूपान्तरण करना होना चाहिए।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर औद्योगीकृत देश ही विश्व का तापमान बढ़ाने के लिए मुख्यतः जिम्मेदार हैं जिनका विकास बहुत हद तक जीवाश्म ईंधनों के बहुत ज्यादा उपभोग पर आधारित रहा है। बहुत कम करके आँकने पर भी यह पता चलता है कि दुनिया में जीवाश्म ईंधनों के कुल उपभोग का 50 फीसदी बहुत ज्यादा औद्योगीकृत देशों में खपत किया जाता है जहाँ दुनिया की केवल 15 फीसदी आबादी रहती है। यही देश आधी से ज्यादा ग्रीन हाउस गैसों का भी उत्सर्जन करते हैं।

जहाँ तक अल्पविकसित देशों का सम्बन्ध है, वे दुनिया के जीवाश्म ईंधन के कुल उपभोग की 18 फीसदी से भी कम खपत करते हैं जबकि वहाँ दुनिया की तीन–चौथाई आबादी रहती है। सबसे औद्योगीकृत देशों और अल्पविकसित देशों के बीच प्रति व्यक्ति ऊर्जा के उपभोग में 8 की तुलना में 1 का अनुपात है। कुछ विशिष्ट स्रोतों के मुताबिक

अल्पविकसित देश दुनिया का तापमान बढ़ाने में मुख्य योगदान कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन करने के जरिये करते हैं जिसका ताल्लुक वहाँ वनों की कटाई से है। तीसरी दुनिया के बहुत से देशों में परम्परागत जैव ईंधनों जैसे लकड़ी का अकुशल और विवेकहीन इस्तेमाल आंशिक तौर पर इस प्रक्रिया को और तेज कर देता है। आज अल्पविकसित देशों की लगभग 70 फीसदी आबादी ईंधन के लिए लकड़ी का इस्तेमाल करती है। एक अनुमान के मुताबिक सन 2000 तक 2 अरब 40 करोड़ लोग ऐसे इलाकों में रह रहे होंगे जहाँ जलावन के लिए लकड़ी की भारी कमी होगी।

जब यह तय करने का सवाल आता है कि विश्व का तापमान बढ़ाने के लिए कौन जिम्मेदार है, तो उष्ण कटिबन्धीय इलाकों में जंगलों की कटाई और अल्पविकसित देशों में कुछ फसलों से होने वाले मीथेन गैस के उत्सर्जन के प्रभावों की तुलना विकसित देशों में अन्य स्रोतों से होने वाले प्रदूषणकारी गैसों के उत्सर्जन के प्रभावों से करना असम्भव है। दरअसल, इन दोनों एकदम भिन्न परिघटनाओं को अलग-अलग करके देखे जाने की आवश्यकता है। तीसरी दुनिया के देशों से होने वाला गैसों का उत्सर्जन मुख्यत: अल्पविकास और गरीबी के चलते है जिसमें ये देश बुरी तरह फँसे हुए हैं, जबकि औद्योगीकृत उत्तर से होने वाले गैसों के उत्सर्जन के लिए काफी हद तक उनका अत्यधिक और फिजूलखर्ची भरा ऊर्जा का उपभोग जिम्मेदार है।

तीसरी दुनिया के ऊर्जा संरक्षण कार्यक्रम अन्य बातों के अलावा इस कारण से भी बहुत ज्यादा सीमित हो जाते हैं कि ये देश बहुत ही गम्भीर वित्तीय और तकनीकी बाधाओं का मुकाबला कर रहे हैं। 1989 में इस समूह के देशों का सकल घरेलू उत्पाद की प्रत्येक इकाई पर ऊर्जा का उपभोग विकसित देशों की तुलना में 65 फीसदी ज्यादा था। व्यावसायिक ऊर्जा की कम प्रति व्यक्ति खपत, आधुनिक और विविधतापूर्ण ऊर्जा नेटवर्क के अभाव और अर्थव्यवस्था के इस क्षेत्र में कर्जों के बहुत ज्यादा बढ़ जाने के कारण ये देश एक ऊर्जा संकट का सामना कर रहे हैं। इसके अलावा, ऊर्जा के दक्षतापूर्ण इस्तेमाल में भारी कमी, नये-नये और ऐसे ईंधन के स्रोतों का सीमित विकास होना जिनका प्राकृतिक तौर पर नवीनीकरण होता रहता है और नाभिकीय ऊर्जा जैसी नयी तकनीक को आत्मसात करने की मुश्किलें जैसी समस्याएँ भी मौजूद हैं। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों की जनता का सामना जब इस यथार्थ से होता है तो सिर्फ अपना अस्तित्व बचाये रखने के लिए पर्यावरण का नुकसान करने के अलावा उसके पास और कोई चारा नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए, एक अफ्रीकी परिवार अपना खाना बनाने के लिए एक यूरोप के परिवार की तुलना में 5 गुना अधिक ऊर्जा का इस्तेमाल करता है।

कुछ लेखकों ने दर्शाया है कि अल्पविकसित देश प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग में बहुत ज्यादा वृद्धि किये बिना भी पश्चिमी यूरोपीय देशों के 1970 के दशक के जीवन स्तर तक

पहुँच सकते हैं। यह परिदृश्य ऊर्जा की खपत और भी दक्षता के साथ करने की तकनीक पर आधारित है इसलिए अधिकांश मामलों में परम्परागत जैव ईंधनों– जैसे लकड़ी, गोबर के उपले और वनस्पतियों के कचरे आदि– के विवेकहीन इस्तेमाल पर आधारित ऊर्जा उपभोग के मौजूदा ढाँचे को स्थानापन्न करना होगा जिसके लिए बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी के निवेश की आवश्यकता होगी।

यही कारण है कि तीसरी दुनिया में ऊर्जा संकट, तकनीक के मामले में अल्पविकास और पर्यावरण के क्षरण के बीच मौजूद दुष्चक्र को तोड़ने के लिए आवश्यक वित्तीय और तकनीकी संसाधनों का आकलन करते समय ऊर्जा क्षेत्र को प्राथमिकता क्षेत्र माना जाना चाहिए। पर्यावरण में आ रहे परिवर्तनों के बारे में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चल रही समझौता वार्ताओं के दायरे में अल्पविकसित देश एक आम माँग के तौर पर पर्यावरण के लिहाज से सुरक्षित प्रौद्योगिक और वित्तीय संसाधनों के हस्तान्तरण के लिए एक विश्वव्यवस्था बनाये जाने की वकालत करते रहे हैं ताकि वे ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन घटा सकें और साथ ही टिकाऊ आर्थिक विकास के लिए आधार भी तैयार कर सकें। इस सन्दर्भ में, विकसित और अल्पविकसित देशों के बीच इतने गैर-बराबरीपूर्ण ढंग से विभाजित ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन के स्तरों को समझौता वार्ताओं का प्रस्थान बिन्दु बनाया जाना चाहिए। इसका विश्लेषण एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए जो औद्योगीकृत देशों द्वारा उत्सर्जित गैसों द्वारा पर्यावरण को पहुँचाये गये नुकसान के समग्र प्रभाव को संज्ञान में ले। इस तरह, इस सिद्धान्त का भी पालन होना चाहिए कि इस ग्रह पर हर किसी को स्वच्छ वायुमण्डल में साँस लेने का समान रूप से अधिकार है और इसीलिए कितनी गैसों का उत्सर्जन किया जाये, यह प्रति व्यक्ति वितरण के आधार पर तय किया जाना चाहिए।

ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन सीमित करने के लिए ली गयी बहुत सी पहलकदमियों में से दो प्रस्तावों पर सबसे ज्यादा बहस हुई है– ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों के उपभोग पर कर लगाना (जिसका निर्धारण हरेक से मौजूद कार्बन की मात्रा के आधार पर किया जाय) और गैस उत्सर्जन के लिए परमिट जारी करने की व्यवस्था जिसे अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बाजार के नियमों के हिसाब से व्यावसायिक रूप दिया जा सकता है।

कुछ अध्ययनों में यह दलील पेश की गयी है कि कार्बन के उत्सर्जन पर टैक्स लगा देने से विकसित देशों में ऊर्जा की घरेलू कीमतें बढ़ जायेंगी और इसका परिणाम इन अर्थव्यवस्थाओं की विकास दर में गिरावट के रूप में सामने आयेगा। इसके बाद अल्पविकसित देशों में स्थित उनके बाहरी बाजारों में भी गिरावट आयेगी। इससे इन देशों पर अतिरिक्त वित्तीय दबाव पड़ेंगे, मुद्रास्फीती बढ़ जायेगी, अन्तरराष्ट्रीय ब्याज दरों में बढ़ोत्तरी होगी और दुनिया के स्तर पर ऋण के प्रवाह में गिरावट आयेगी। कुछ अनुमान

दर्शाते हैं कि ओ.ई.सी.डी. देशों की आर्थिक गतिविधियों में हर एक प्रतिशत की गिरावट अल्पविकसित देशों की अर्थव्यवस्था में 0.7 फीसदी की गिरावट पैदा करेगी। यह अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं की उत्तर के औद्योगीकृत देशों के ऊपर निर्भरता और उनकी अधीनता के उच्च स्तर को दर्शाता है।

ओपेक के सचिवालय द्वारा करवाये गये एक अध्ययन के मुताबिक अल्पविकसित देशों के कुल सकल घरेलू उत्पाद में 1991-2010 के बीच, ओ.ई.सी.डी. द्वारा कार्बन पर टैक्स लगाने के परिणामस्वरूप, कुल संचित गिरावट 60 करोड़ डालर और 3 अरब 70 करोड़ डालर के बीच होगी। इस नुकसान का अच्छा-खासा हिस्सा ऊर्जा का निर्यात करने वाले देशों को झेलना पड़ेगा जिससे उनकी विदेशी मुद्रा की आय में उल्लेखनीय कमी हो जायेगी। ओपेक के बाहर के अल्पविकसित देशों में 1991-2010 के बीच सकल घरेलू उत्पाद की औसत सालाना विकास दर में 0.1 फीसदी से लेकर 0.8 फीसदी तक की कमी आयेगी। फिर भी, ये देश जिनका विशाल बहुमत ऊर्जा का शुद्ध आयात करता है, ओ.ई.सी.डी. कार्बन टैक्स लागू होने के चलते विश्व की पेट्रोलियम कीमतों में आयी गिरावट के कारण कुछ हद तक राहत ही महसूस करेंगे।

ओ.ई.सी.डी. के देशों में इन नीतियों को व्यापक तौर पर लागू करने के साथ-साथ विकसित देशों को उनके इस कदम के कारण अल्पविकसित देशों को होने वाले सम्भावित नुकसानों की भरपाई करने की जिम्मेदारी भी उठानी चाहिए। संयुक्त राष्ट्र द्वारा करवाये गये कुछ अध्ययनों के मुताबिक इस टैक्स नीति से एकत्र होने वाली धनराशि का एक हिस्सा तीसरी दुनिया को दिया जाना चाहिए ताकि उनके टिकाऊ विकास के लिए वित्त की व्यवस्था हो सके। अन्यथा, विकसित देशों द्वारा पर्यावरण के नुकसान को कम करने के लिए जिन समायोजनों को निस्संदेह लागू किया जाना चाहिए, उनका खमियाजा भी काफी हद तक अल्पविकसित देशों को ही भुगतना पड़ेगा।

यह भी खतरा है कि ओ.ई.सी.डी. देश उन गतिविधियों को, जिनमें कार्बन का बहुत ज्यादा उत्सर्जन होता है, दुनिया के अन्य ऐसे इलाकों में स्थानान्तरित या पुनर्स्थापित करने लग जायें जहाँ टैक्स कम हों या हो ही ना। यह प्रदूषणकारी तकनीकों को तीसरी दुनिया में स्थानान्तरित करने की प्रवृति को बल प्रदान करेगा। परिणामस्वरूप, यह दुनिया भर में इस टैक्स नीति के कार्बन डाई ऑक्साइड के उत्सर्जन पर पड़ने वाले प्रभाव को, कम से कम आंशिक तौर पर ही, निरस्त कर देगा। यही वजह है कि टैक्स लगाने की इन नीतियों के साथ-साथ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की विदेशों में होने वाली गतिविधियों को भी कुछ नियामकों के जरिये नियन्त्रण में लाया जाना चाहिए ताकि ये कम्पनियाँ टिकाऊ विकास के प्रति वचनबद्ध हों।

जहाँ तक गैस उत्सर्जन के परमिट जारी करने की व्यवस्था का सम्बन्ध है, वे बाजार

की एक ऐसी प्रक्रिया का निर्माण करते हैं जो इसके प्रस्तावकों के मुताबिक कार्बन डाई ऑक्साइड के उत्सर्जन को नियन्त्रित करने, और साथ ही, अल्पविकास और पर्यावरण के नुकसान की समस्याओं का मुकाबला करने के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधन अल्पविकसित देशों को उपलब्ध करवाने का सबसे प्रभावी तरीका है। उनके अनुसार हरेक देश के लिए प्रति व्यक्ति गैस उत्सर्जन का निश्चित कोटा निर्धारित किया जायेगा जिससे अधिकांश अल्पविकसित देशों को अपने अल्पकालिक स्तरों से ज्यादा गैसों के उत्सर्जन की अनुमति मिल जायेगी। वे अपने इस कोटे को उन औद्योगीकृत देशों को बेचने लगेंगे जो पहले ही अपने निर्धारित कोटे से ज्यादा गैसों का उत्सर्जन कर चुके हैं। इस बिक्री से अल्पविकसित देश पर्याप्त वित्तीय संसाधन प्राप्त कर सकेंगे जो ऐसी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए कार्यक्रमों और नीतियों में निवेश किये जा सकें जिसका लक्ष्य ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करना हो। दूसरी ओर, विकसित देशों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जा सकेगा कि वह ऊर्जा के मामले में अपनी दक्षता बढायें और तीसरी दुनिया के देशों को ज्यादा दक्ष ऊर्जा प्रौद्योगिकियों का निर्यात करें।

लेकिन ऊपरी तौर पर नेकनीयत दिखने वाले इस प्रस्ताव के पीछे अल्पविकसित देशों के लिए बहुत बड़ा खतरा छिपा हुआ है। निर्णय लेने की ज्यादा बड़ी ताकत विकसित देशों के हाथों में केन्द्रित होने और अल्पविकसित देशों के सामने गम्भीर वित्तीय बाधाओं के मौजूद होने के चलते उनके गैस उत्सर्जन के परमिट भारी संख्या में औने-पौने दामों पर ही खरीद लिये जायेंगे। इस बिक्री से प्राप्त होने वाली आय का भी एक अच्छा-खासा हिस्सा विदेशी कर्जों या अन्य वित्तीय घाटों की भरपाई के जरिये उनसे वापस लिया जा सकता है। इस तरह पर्यावरण के लिहाज से सुरक्षित प्रौद्योगिकियों के विकास में कोई खास योगदान नहीं हो पायेगा। शायद बहुत जल्दी ही लोग गैस उत्सर्जन के परमिट से कर्ज की अदला-बदली को बढ़ावा देने लग जायें जिसके तीसरी दुनिया के लिए परिणाम निस्संदेह बहुत ही गम्भीर होंगे।

यह कोई संयोग नहीं है कि आज पूरे ग्रह को चपेट में लेती जा रही नवउदारवादी लहर के तहत पर्यावरण की समस्याओं को सुलझाने के मामलें में भी बाजार की प्रक्रियाओं को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करने के प्रयास किये जा रहे हैं। यह बहुत ही चिन्ताजनक बात है। गैस उत्सर्जन के परमिटों– बल्कि प्रदूषण के परमिटों– के व्यावसायीकरण की इस योजना की शर्तों के तहत अल्पविकसित देशों की सामाजिक-आर्थिक गतिविधि गम्भीर रूप से बाधित होगी। वे इस कदर बुरी तरह प्रभावित होंगे कि खासकर ऊर्जा दक्षता या सामान्य तौर पर अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए जरूरी ढाँचागत समायोजन को लागू किये बिना ही अपने परमिट बेच डालेंगे। दुनिया में उभर रही नयी विश्वव्यवस्था के ढाँचे में यह प्रस्ताव टिकाऊ विकास के सिद्धान्त को विकसित देशों के हित में ढालने की अनेकों

छलयोजनाओं में से एक है जो औद्योगीकृत उत्तर के साथ अल्पविकसित दक्षिण के निर्भरता और अधीनता के सम्बन्धों को मजबूत करेगा।

जैविक-विविधता और विकास

प्रकृति के अनुकूल खुद को ढालने की प्रक्रिया में भोजन, ऊर्जा और कपड़ों आदि की अपनी तलाश से गुजरती मानवजाति जीवधारियों के प्राकृतिक वासस्थानों– जिनमें उसके अपने वासस्थान भी शामिल हैं– को लगातार प्रभावित करती रही है। फिर भी, मनुष्यों के लुटेरों जैसे व्यवहार के परिणामस्वरूप आज भी वासस्थान में परिवर्तन और उसके चलते पौधों, जानवरों और सूक्ष्म जीवों की प्रजातियों के गायब होने की प्रक्रिया पहले से कहीं ज्यादा तेजी से घटित हो रही है। यह गणना की गयी है कि जहाँ 1980 में एक प्रजाति प्रति दिन नष्ट हो रही थी वहीं 1990 में यह दर एक प्रजाति प्रति घण्टे हो गयी।

सामान्य शब्दों में कहें तो अनुमानतः शायद लगभग ढाई लाख प्रजातियों– पृथ्वी पर कुल जीवों की किस्मों के एक चौथाई– के सामने अगले 20-30 साल के भीतर विलुप्त हो जाने का गम्भीर खतरा मौजूद है। कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि चिड़ियों की लगभग 350 प्रजातियाँ, स्तनधारियों की 200 प्रजातियाँ और पौधों की लगभग 25 हजार प्रजातियाँ विलुप्त होने के कगार पर हैं। दुनिया के इन जीन संसाधनों का नष्ट हो जाना वनों के कटाव और दुनिया के पर्यावरण के क्षरण के चलते हुई सबसे गम्भीर और अपूरणीय क्षति होगी।

यह समस्या जो तथाकथित पर्यावरण संकट को पैदा करने वाली किसी भी अन्य समस्या से ज्यादा विकट है, अल्पविकास से जुड़ी हुई परिघटना है। अपने विशाल भौगोलिक क्षेत्रफल के कारण अल्पविकसित देश दुनिया के प्रमुख प्राकृतिक संसाधनों तथा सबसे बड़े और सबसे विविधतापूर्ण जैविक भण्डारों के स्वामी हैं। साथ ही, वे ऐसी सामाजिक-आर्थिक दशाओं में जकड़े हुए हैं जो इन संसाधनों के अत्यधिक दोहन को बढ़ावा देती हैं। उदाहरण के लिए, उष्ण-कटिबन्धीय बरसाती वनों की कटाई के बढ़ने से उनमें रहने वाली दुनिया की 90 फीसदी प्रजातियों के विलुप्त होने और उनके वासस्थानों के उजड़ने की प्रक्रिया बहुत तेजी से बढ़ी है।

मूँगे की चट्टानें, प्राचीन भौगोलिक इतिहास वाली झीलें और नमक के दलदल, वे अन्य वासस्थान हैं जो उन प्रजातियों के मामले में बहुत धनी हैं जिनके विलुप्त होने का खतरा भी सामने है। खासकर मूँगे की चट्टानें, जो दुनिया भर में लगभग 4 लाख वर्ग किमी में फैली हैं और अनुमानतः 5 लाख प्रजातियों का घर हैं, विश्व का तापमान बढ़ने, समुद्री-प्रदूषण और मानवों के द्वारा की जाने वाली लूटपाट की मार झेल रही हैं। नुकसान की रफ्तार इस खतरे का संकेत करती है कि अगली सदी की शुरुआत तक शायद उनके

कुछ एक अवशेष ही रह जायें। इसका मतलब होगा चिकित्सा विज्ञान के लिए महत्वपूर्ण जीवों और जीव-विषों की भारी मात्रा का नाश।

जैविक-विविधता के नुकसान को प्रत्येक प्रजाति के भीतर जीन विविधता के नुकसान के साथ जोड़कर समझा जाना चाहिए। यह एक ऐसी परिघटना है जिसका मतलब है विभिन्न प्रजातियों और नस्लों की परिवर्तनशीलता में क्रमशः गिरावट और उनका सम्भावित विलोपन। इस विरोधाभास पर ध्यान देना होगा कि ठीक उस समय जब विज्ञान और तकनीक ने हमें सभी वनस्पतियों और जानवरों की प्रजातियों की जीन परिवर्तनशीलता का अन्वेषण करने और उसका उपभोग अपने फायदे के लिए करने में बहुत हद तक समर्थ बना दिया है, प्राकृतिक परिवर्तनशीलता खुद इस कदर खतरे में पड़ गई है और सबसे बुरी बात है वह खतरनाक रफ्तार जिससे वे प्रजातियाँ घटती जा रहीं है या गायब हो रही हैं जिनके बारे में हम बहुत कम या बिल्कुल नहीं जानते। अभी तक वैज्ञानिकों ने वनस्पतियों की 100 में से केवल 1 प्रजाति पर सघन रूप से शोधकार्य किया है।

जीव-जन्तुओं की प्रजातियों के मामले में यह अनुपात और भी कम है। वर्तमान दर से अनगिनत प्रजातियाँ, इसके पहले कि मनुष्य उनके बारे में जान सके या उनमें छिपी हुई सम्भावनाओं का लाभ उठा सके, गायब हो जायेंगी। पर्यावरण और अर्थव्यवस्था के लिए इसके बहुत गम्भीर परिणाम होंगे।

सामाजिक-आर्थिक कारकों और सबसे ज्यादा प्रौद्योगिकी से जुड़े कारकों ने इस प्रक्रिया को प्रभावित किया है। आज इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि तथाकथित हरित-क्रान्ति के परिणामस्वरूप खेती रासायनिक उत्पादों पर बहुत ज्यादा निर्भर हो गयी जिसके नतीजे पर्यावरण के लिए बहुत ही गम्भीर साबित हुए। इसके अतिरिक्त अधिक पैदावार देने वाले संकर किस्म के बीजों की खेती के जरिये इसने जीन विविधता के क्षरण की परिस्थितियाँ भी पैदा कीं।

इस बात पर भी बार-बार जोर दिया जाता रहा है कि पिछले कुछ सालों के दौरान हुआ जैव-प्रौद्योगिकी का इतना त्वरित विकास, खासकर कि खाद्य उद्योग के क्षेत्र में इसके अनुप्रयोग के कारण निकट भविष्य में जैव-विविधता के नुकसान को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह से प्रभावित कर सकता है। जीन संयोजन की तकनीकों के मामले में और प्रगति होने के साथ ही– दरसअल यह प्रगति पहले ही हो चुकी है– वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं में सम्भावित उन्नति की भविष्यवाणी की जा सकेगी। गिनाने के लिए इसके मात्र कुछ एक अनुप्रयोग ही पर्याप्त होंगे– पर्यावरण के हिसाब से अनुकूलित होने और साथ ही अधिक उत्पादन की सम्भावनाएँ, वर्तमान बंजर जमीनों को उपजाऊ बनाना और यहाँ तक कि अप्राकृतिक कच्चे मालों से भोजन का उत्पादन करना। यह सब यही

दर्शाता है कि इस परिवर्तनशीलता के संरक्षण की जरूरत है क्योंकि जीन इंजीनियरिंग के लिए जैविक स्रोतों की गारण्टी करने का यही एकमात्र रास्ता है।

पहले कभी की तुलना में आज इस बात की बहुत ज्यादा सख्त जरूरत है कि अल्पविकसित देशों की वैज्ञानिक और तकनीकी विकास और ज्ञान तक पहुँच हो। सिर्फ इसलिए नहीं कि यह उन्हें अपनी अनगिनत सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरण की समस्याओं का हल करने में सक्षम बनायेगा बल्कि इसलिए भी कि पूँजीवाद के विकास की वर्तमान अवस्था में पूँजी के संचय में वैज्ञानिक ज्ञान मुख्य भूमिका निभाता है। आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी दक्षिण के देशों की भोजन, ऊर्जा और स्वास्थ्य जैसी बहुत सी जरूरतों की पूर्ति और आर्थिक विकास का रास्ता हो सकती है जिनके पर्यावरण तन्त्रों में सबसे अधिक जैविक-विविधता है और जहाँ तथाकथित वनस्पति की विविधता के केन्द्रों की सबसे अधिक संख्या मौजूद है।

आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी के विकास द्वारा पेश की गयी सम्भावनाओं के चलते अल्पविकसित दुनिया के जीन संसाधनों ने असाधारण महत्व प्राप्त कर लिया है। ऐसा इन देशों की प्रौद्योगिकी के मामले में बहुत ज्यादा परनिर्भरता और उनके जीन भण्डार के व्यावसायिक रूप से दोहन के खिलाफ सुरक्षा की भाग्य के भरोसे चल रही व्यवस्था के सन्दर्भ में घटित हुआ है।

जैव-प्रौद्योगिकी के आधुनिक विकास की अनिवार्य विशेषताएँ अल्पविकसित देशों के शुद्ध फायदे में प्रतीत नहीं होतीं, जबकि वे ऐसे उत्पादक हैं जिन्हें इस नई प्रौद्योगिकी की सबसे ज्यादा जरूरत है। जैसा कि हरित-क्रान्ति के मामले में हुआ था, तीसरी दुनिया के गरीब उत्पादकों की इस विकास तक आमतौर पर पहुँच नहीं होगी, न ही आयातित सामानों पर उनकी निर्भरता कम होगी। इसके अलावा, जैव-प्रौद्यागिकी की और सामान्य तौर पर प्रौद्योगिकी की उन्नति के चलते अब औद्योगीकृत देशों के लिए यह अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है कि वे अपने कच्चे मालों को बचाकर रखने और उन्हें स्थानापन्न करने की प्रक्रिया अपनाएँ। इससे तीसरी दुनिया से होने वाले मुख्य निर्यातों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है।

दरअसल, जीन संसाधनों पर अधिकार और नियन्त्रण तीसरी दुनिया को लूटने का एक नया तरीका है, जो इस क्षेत्र में कार्यरत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य बन गया है। आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी में चल रहे उन्नत शोधों पर इन बड़े निगमों के एकाधिकार का मतलब है, व्यवहार में, वे बहुत ज्यादा जरूरी चीजों पर शोध नहीं करेंगे बल्कि उन चीजों पर करेंगे जिनके जरिये उन्हें सबसे ज्यादा व्यावसायिक फायदे हों। बीजों का क्षेत्र इसका एक बढ़िया उदाहरण है। रसायन और दवा बनाने वाली प्रमुख बहुराष्ट्रीय कम्पनियों

के बीज उद्योग में अपना कारोबार फैलाने से तीसरी दुनिया के उत्पादक पहले से ज्यादा निर्भरता और अधीनता की स्थिति में पड़ गए हैं। क्योंकि वे प्रौद्योगिकी के उस बहुत ही खर्चीले पैकेज के खरीदार बने हैं जिसको इन कम्पनियों के हित साधन के लिए तैयार किया गया है, अल्पविकसित देशों के कृषि उत्पादन के आर्थिक और पर्यावरण सम्बन्धी हितों के लिए नहीं।

विकसित दुनिया में जैव-प्रौद्योगिकी पर चल रहे उन्नत शोधों के निजी चरित्र का मतलब है कि इस काम को ज्यादा से ज्यादा गोपनीय तरीके से किया जाये क्योंकि एक नये पेटेण्ट कराने लायक उत्पाद को तैयार करना और उस तकनीक से ठीक-ठाक मात्रा में प्रौद्योगिक मुनाफा कमाना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। यह अल्पविकसित देशों को प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण और साथ ही, उनके वैज्ञानिकों की उच्च शिक्षा के केन्द्रों तक पहुँच के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है।

निजीकरण में सहसा वृद्धि ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की आवश्यकता के साथ मिलकर न केवल जैव-प्रौद्योगिकी की उन्नत शोधों के कॉपीराइट को नियन्त्रित करने वाली नयी प्रणालियों पर अधिकाधिक प्रभाव डाल रही है बल्कि अल्पविकसित देशों की राष्ट्रीय विरासत पर उनके नियन्त्रण को भी लगातार बढ़ती हुई मात्रा में प्रभावित कर रही है। अल्पविकसित देशों पर एक ऐसी पेटेण्ट व्यवस्था को थोपने के प्रयास किये जा रहे हैं जो पहले तो, अपने कमाये मुनाफे का उपभोग करने के इन देशों के अधिकार का ही सम्मान नहीं करती। ये देश नए ज्ञान के लिए जीवित स्रोत हैं और सैकड़ों सालों तक इसकी उन्नति और प्राकृतिक वरण में उन्होंने काफी उल्लेखनीय योगदान किया है। दूसरे, प्रमुख रूप से वित्तीय समस्या के चलते अल्पविकसित देशों की इस प्रौद्योगिक उन्नति तक पहुँच और भी कठिन होगी। सबसे गम्भीर प्रश्न यह है कि जैव-विविधता के संरक्षण की समस्या तक बाजार की शक्तियों के विस्तार के साथ ही हम प्राकृतिक संसाधनों के मामले में राष्ट्रीय सम्प्रभुता को खो देने के रास्ते पर बढ़ सकते हैं।

जैव-विविधता के नाश या उसके क्षरण के प्रति चिंता के चलते उसके संरक्षण के लिए इतने प्रस्ताव आये हैं। पर्यावरणतन्त्रों और प्रजातियों के अपने प्राकृतिक पर्यावरण में उनके संरक्षण के बुनियादी महत्व पर सभी विशेषज्ञ सहमत हैं। लेकिन अल्पविकसित देशों के पास इसके लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों का आमतौर पर अभाव होता है। आजकल दुनिया भर में 450 से अधिक संस्थान रोगाणुओं के जीव-द्रव्य का दूरवर्ती स्थानों पर संरक्षण कर रहे हैं। एकत्रित किये गये कुल नमूनों का 50 फीसदी औद्योगीकृत देशों में, 21 फीसदी अन्तरराष्ट्रीय केन्द्रों से सम्बन्धित रोगाणु जीव-द्रव्य बैंको में और 29 फीसदी अल्पविकसित देशों में है।

अन्तरराष्ट्रीय कृषि शोध केन्द्रों के द्वारा किये गये जीन संग्रह का निजीकरण करने के पक्ष में आज भारी दबाव बनाया जा रहा है। एफ.ए.ओ. और यूनेस्को से जुड़े अन्य केन्द्रों की तरह, अभी तक इनके जीन-संसाधन सभी को मुफ्त में उपलब्ध थे। विश्व बैंक का सुझाव है कि वित्तीय संसाधन जुटाने और पेटेण्ट व कॉपीराइट के अन्य तरीकों को लागू करने के लिए इन केन्द्रों को निजी क्षेत्र के साथ सहयोग समझौते करने चाहिए। वनस्पति-सम्बन्धी संसाधनों तक मुफ्त पहुँच की हिफाजत के लिए बनाये गये एफ.ए.ओ. के अपने ही कई प्रावधान आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और औद्योगीकृत देशों के हितों के साथ टकरा रहे हैं।

इन सब कारणों की वजह से इस रियो सम्मेलन की तैयारी के तौर पर एक जैव-विविधता समझौते के लिए चल रही वार्ताओं में अल्पविकसित देशों ने विशेष दिलचस्पी दिखायी है। सारी बातें इसी ओर इशारा करती हुई नजर आती हैं कि विकसित देश, खासकर अमरीका, एक ऐसा समझौता करने की फिराक में है जो अल्पविकसित देशों के राष्ट्रीय और सम्प्रभु संसाधनों तक उनकी मुक्त पैठ तथा उनके और ज्यादा नियन्त्रण की गारण्टी करे। ऐसा वे जैविक और जीन संसाधनों– जो ज्ञान और वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक विकास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं– के मालिकाने के उनके 'अधिकारों' को मान्यता दिये बिना करना चाहते हैं। साथ ही औद्योगीकृत देश उरुग्वे राउण्ड की समझौता वार्ताओं में जैव-प्रौद्योगिकी की उन्नति और कॉपीराइट के क्षेत्र में अपना और भी सख्त नियन्त्रण हासिल करने के लिए प्रयास कर रहे हैं।

इस बात पर जितना जोर दिया जाये कम होगा कि औद्योगीकृत देशों के हितों पर प्राथमिकता में ध्यान देने वाली कोई भी जैव-विविधता सन्धि और इसके अलावा इन देशों द्वारा इस मामले में सैद्धान्तिक घोषणा पत्रों को थोपने के लिए अलग से किये गये कोई भी प्रयास– न सिर्फ अल्पविकसित देशों की सम्प्रभुता के लिए खतरा होंगे बल्कि तीसरी दुनिया को मिलने वाली आर्थिक सहायता को सशर्त बनाने में कानूनी हथियार के तौर पर इस्तेमाल किये जायेंगे। वास्तव में, यदि जीवित प्रजातियों में कोई परिवर्तन पेटेण्ट करवाया जा सकता है और उससे मुनाफा कमाया जा सकता है तो जैव-विविधता में योगदान के लिए, जो जीन-परिवर्तनों को प्राप्त करने का आधार है, अल्पविकसित देशों को मुआवजा कैसे दिया जायेगा? तीसरी दुनिया अपने खुद के विकास के लिए अपने प्राकृतिक संसाधनों, और खासकर अपनी जैविक-विविधता की हिफाजत कैसे कर पायेगी?

वित्तीय संसाधन और प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण

आर्थिक गतिविधि के 1990 के स्तर के आधार पर लगाये गये प्राथमिक अनुमानों के मुताबिक, पर्यावरण की दीर्घकालिक सुरक्षा हासिल करने के लिए बनाये गये कार्यक्रमों

में निवेश के लिए सभी अल्पविकसित देशों को मिलकर सालाना कम से कम 40 अरब डालर की और जरूरत होगी। यह धनराशी इन देशों द्वारा उस साल किये गये कुल विदेशी ऋणों के भुगतान की एक चौथाई है। सन 2000 में यह आवश्यक धनराशि लगभग 60 अरब डालर होगी।

पर्यावरण-सम्बन्धी कुछ संगठनों का विचार है कि कार्यसूची 21 को व्यवहार में लागू करने के लिए इस सदी के अन्त तक तीसरी दुनिया को प्रतिवर्ष करीब 125 अरब डालर की सहायता की जरूरत होगी। इसमें उन प्रयासों को शामिल नहीं किया गया है जो अल्पविकसित देशों को खुद ही लागू करने पड़ेंगे। कुछ अन्य अनुमानों के मुताबिक, यदि सामाजिक तौर पर अपरिहार्य विकास सहायता में तीसरी दुनिया के पर्यावरण की हिफाजत के लिए आवश्यक सहायता को भी जोड़ दिया जाये तो आवश्यक पूरक सहायता सन 1990 में 60 अरब डालर से बढ़कर 2000 में 140 अरब डालर हो जायेगी।

इसके लिए आवश्यक संसाधनों की मात्रा और अल्पविकसित देशों के सामने मौजूद गम्भीर वित्तीय बाधाओं को देखते हुए पर्यावरण के ऊपर भारी निवेश की सम्भावना सबसे अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि इन अर्थव्यवस्थाओं द्वारा झेली जा रही गम्भीर समस्याओं का न्यायपूर्ण और स्थायी समाधान निकाला जाये। इन समस्याओं में विदेशी कर्ज का बहुत बड़ा बोझ, संसाधनों की विदेशी लूट, जो कर्ज की समस्या का ही एक हिस्सा है, व्यापारिक बाधाएँ जो इन देशों के सामानों का दुनिया के बाजार में बराबरी के आधार पर प्रवेश रोकती हैं और तीसरी दुनिया को प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण पर लगे मौजूदा नियन्त्रण शामिल हैं। आज कोई भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि इन देशों को अपने सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए जरूरी रणनीतियाँ खुद तय करनी चाहिए, जो उनकी अपनी उत्पादक क्षमता के दीर्घकालिक विस्तार को सुनिश्चित करने में उनकी मदद करें, उनकी गम्भीर सामाजिक समस्याओं का मुकाबला करें, उनकी पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं को हल करें और पर्यावरण के सम्भावित क्षरण को रोक सकें तथा उनके उपलब्ध संसाधनों के अनुरूप हों। फिर भी, यह स्पष्ट है कि विदेशी वित्तीय सहायता इसमें एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी। विकसित दुनिया की पर्यावरण सम्बन्धी देनदारियों को चुकाने का यह बुनियादी तरीका है।

टिकाऊ विकास के लिए विदेशी वित्तीय सहायता तीसरी दुनिया को दिये जा रहे पहले से ही बहुत कम वित्तीय संसाधनों के पुनर्वितरण का परिणाम नहीं, बल्कि नयी पूँजी के रूप में होनी चाहिए। अन्यथा, पर्यावरण के मुद्दे विकास सहायता के लिए एक और शर्त मात्र बनकर रह जायेंगे। इसके अलावा यह अतिरिक्त पूँजी कम ब्याज दर और भुगतान की आसान शर्तों पर दी जानी चाहिए और इसमें ऐसी सहायता भी शामिल होनी चाहिए जिसको वापस न चुकाना पड़े।

कुछ गणनाओं के मुताबिक आधिकारिक विकास सहायता की अपनी वचनबद्धता को निभाने और अल्पविकसित देशों के पर्यावरण सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए जरूरी अतिरिक्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध करवाने के लिए विकसित देशों को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का सालाना कम से कम 1 फीसदी ''टिकाऊ विकास के लिए आधिकारिक सहायता'' के मद में खर्च करना होगा। इसका मतलब है कि विकसित देशों को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का कम से कम 0.3 फीसदी हिस्सा तीसरी दुनिया के पर्यावरण सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए अतिरिक्त योगदान के रूप में देना होगा। इन आँकड़ों में पूर्वी यूरोप के भूतपूर्व समाजवादी देशों की ओर होने वाला पूँजी का प्रवाह शामिल नहीं है। फिर भी, सच यही है कि कुछ एक अपवादों को छोड़ दिया जाये तो विकसित देश टिकाऊ विकास के लिए अतिरिक्त वित्त मुहैय्या करने का ठोस वायदा करने के मामले में दायें-बायें करते रहे हैं।

पर्यावरण में निवेश के लिए जरूरी आवश्यक संसाधनों के सवाल पर छिड़ी बहस में एक अवधारणा अक्सर व्यवहार में लायी जाती रही है, वह है– ''अतिरिक्त सहायता के लिए साझेदारी''। इसका मतलब यह है कि अल्पविकसित देशों की नीतियों और रणनीतियों को आपस में मिलकर और अधिक बेहतर तरीके से पेश करने की जरूरत है। यह पर्यावरण सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए वित्तीय संसाधनों के प्रवाह को प्रोत्साहित करने की एक पूर्वशर्त होगी। निस्संदेह, अल्पविकसित देशों के बीच आर्थिक नीतियों में तालमेल को बेहतर बनाने का कोई भी प्रयास, सबसे पहले आर्थिक एकीकरण की योजनाओं के संदर्भ में, उन्हें एक दूसरे का और ज्यादा पूरक बना देता है। लेकिन यदि ''अतिरिक्त सहायता के लिए साझेदारी'' का यह विचार पूरी तीसरी दुनिया में विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के उद्देश्य से नवउदारवादी नुस्खों का सामान्यीकरण करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है, तो इस तरह के प्रयासों के विपरीत परिणाम होंगे जो इन देशों के सामाजिक-आर्थिक भविष्य पर गम्भीर नकारात्मक प्रभाव छोड़ेंगे।

तथाकथित 'कर्ज के बदले पर्यावरण की सुरक्षा' वित्त मुहैय्या करने का एक और नया तरीका है जिसका हाल में अक्सर जिक्र आता रहा है। इस सिद्धान्त के मुताबिक किसी अल्पविकसित देश के विदेशी कर्ज का एक हिस्सा विदेशी सरकारों या गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा एक निश्चित छूट पर बाजार में खरीदा जा सकता है। कभी-कभी छूट पर होने वाली इस बिक्री से सम्बन्धित देश को होने वाली आमदनी, कर्जदार देश के पर्यावरण की हिफाजत के कार्यक्रमों में निवेश की जा सकती है जिसमें अन्य कार्यक्रमों के अलावा संरक्षित इलाकों की स्थापना करना भी शामिल है।

अभी तक इन कार्यक्रमों के सपष्ट दिखायी देने वाले प्रभाव बहुत सीमित रहे हैं। अमरीकी कांग्रेस की एक रिपोर्ट के मुताबिक 1986 और 1990 के बीच 13 अल्प-विकसित देशों में ऐसे कुल 26 अभियान चलाये गये। इससे कर्जों में 12 करोड़ 60 लाख

डालर की नाममात्र की बचत हुई, जो इन देशों के कुल कर्जों के 0.05 फीसदी से भी कम है। विनिमय किया गया दो-तिहाई कर्ज एक ही देश कोस्टारिका में था जिसका कुल कर्ज इस तरह सिर्फ 2 फीसदी के लगभग कम हुआ।

पर्यावरण सुरक्षा के बदले कर्ज का विनिमय पर्यावरणविदों के नेक इरादों के बावजूद उन दोनों समस्याओं में से किसी का भी समाधान नहीं कर सका जिन्हें यह एक साथ जोड़ता है। पहले तो, यह कर्ज की समस्या को तब तक हल नहीं कर सकता जब तक कि वह उसे पैदा करने वाले कारणों से निपटने में असफल रहता है। लेकिन इससे गम्भीर बात यह है कि वह सम्बन्धित देश की सम्प्रभुता के सम्भावित नुकसान को अपरिहार्य बना देता है, खासतौर पर तब जब इस सन्दर्भ में किये गये समझौते कर्जदार देश के अपने कुछ प्राकृतिक संसाधनों या कुछ इलाकों पर अधिकार को सीमित कर देते हैं जिन्हें इस प्रक्रिया के तहत संरक्षित घोषित कर दिया जाता है। विदेशी कर्ज के पूँजीकरण के सभी रूपों में आमतौर पर पाये जाने वाले सभी नकारात्मक पहलू इस प्रक्रिया में भी मौजूद हैं। इनमें कर्जदार देश की अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति पैदा करने वाला पहलू भी शामिल है। सामान्यत:, ये कार्यक्रम उन परियोजनाओं को प्राथमिकता देते हैं जो उन्हें बढ़ावा देने वाले पक्ष के हित में हों या जिनका अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रभाव पड़ता हो। बहुत से मामलों में, ये परियोजनाएँ ऐसी नहीं होतीं कि उनमें अल्पविकसित देशों की सबसे ज्यादा दिलचस्पी हो क्योंकि वे सम्बन्धित देश की आबादी को कोई स्पष्ट तात्कालिक फायदे नहीं पहुँचातीं।

पर्यावरण सुरक्षा के बदले कर्ज के विनिमय से सम्बन्धित द्विपक्षीय समझौतों के अलावा एक और विकल्प का अध्ययन किया गया है। इसके मुताबिक एक बहुपक्षीय सत्ता का सृजन किया जायेगा जो ऋणों को और भी कम दर पर खरीदने के लिए एक केन्द्रीकृत फण्ड का निर्माण करेगी और इस तरह प्राप्त परिसम्पत्तियों का इस्तेमाल कर्जदार देशों के साथ समझौता वार्ताओं के जरिये टिकाऊ विकास की परियोजनाओं को वित्त उपलब्ध करवाने में किया जायेगा। इस मॉडल में भी यह स्पष्ट है कि पर्यावरण के संरक्षण के बदले कर्ज के विनिमय के कार्यक्रम, तीसरी दुनिया की पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं का मुकाबला करने के प्रयासों और कर्ज की समस्या के न्याय संगत हल को एक साथ जोड़ने की आदर्श प्रक्रिया से कोसों दूर हैं।

पर्यावरण और विकास की समस्याओं का मुकाबला करने में अल्पविकसित देशों को जिन गम्भीर वित्तीय मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है, तीसरी दुनिया को पर्यावरण के लिहाज से सुरक्षित प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण में मौजूद सीमाओं के चलते वे विशेष महत्व धारण कर लेती हैं। पिछले दशक के दौरान, जो तीसरी दुनिया के ऊपर विदेशी कर्ज के नकारात्मक प्रभाव के कारण जाना जाता है, अन्तरराष्ट्रीय वित्त का प्रवाह और परिणामस्वरूप प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण का प्रवाह भी इन देशों से बाहर की ओर रहा है।

इसका प्रभाव पूँजीगत सामानों के व्यापार और साथ ही प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और तकनीकी सहायता पर भी पड़ा है।

अल्पविकसित देशों के पर्यावरण–तन्त्रों की नाजुक प्रकृति और पर्यावरण के क्षरण का मुकाबला करने के लिए उपलब्ध संसाधनों की अपर्याप्तता के कारण पर्यावरण के हिसाब से विश्वस्त प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण उनके टिकाऊ विकास का एक जरूरी हिस्सा है। अल्पविकसित राष्ट्रों को उन्नत प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण की सबसे आम बाधाओं में, कर्ज की समस्या से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर पैदा होने वाली वित्तीय बाधाओं से अलग, सूचनाओं का अभाव, एक प्रशिक्षित श्रम शक्ति का अभाव और नयी प्रौद्योगिकी के प्रसार को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक बुनियादी ढाँचे का अभाव शामिल है।

मौजूदा वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक क्रान्ति द्वारा लाये गये गहन रूपान्तरणों के परिणामस्वरूप बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की कारपोरेट रणनीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। शोध और विकास के ऊपर बढ़ते खर्चे का मुकाबला करने और कॉपीराइट की और ज्यादा सुरक्षा की गारण्टी करने के लिए अपनायी गयी ये कारपोरेट रणनीतियाँ विकसित देशों में इन कम्पनियों को रणनीतिक गठजोड़ कायम करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इसके चलते तीसरी दुनिया को होने वाला प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण कम हो जाता है।

इन नयी कारपोरेट रणनीतियों को औद्योगीकृत देशों का प्रबल समर्थन प्राप्त है। असल में इन देशों की सरकारों, खासकर अमरीका की सरकार ने उरुग्वे चक्र की वार्ताओं में बौद्धिक सम्पदा अधिकारों की हिफाजत के बारे में और ज्यादा सख्त और एक समान नियामक बनाने के लिए पूरी ताकत से धक्का लगाया है।

इस प्रकार के सुरक्षा उपायों के स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप आयातित प्रौद्यागिकी की कीमतें खासतौर पर उन उद्योगों में बढ़ जायेंगी जो पेटेण्ट करायी जा चुकी प्रक्रियाओं का गहनता से प्रयोग करते हैं। इसके चलते अल्पविकसित देशों में वित्तीय संसाधनों की अतिरिक्त माँग अपरिहार्य हो जायेगी। पर्यावरण की हिफाजत के लिए नये समझौतों और विज्ञप्तियों पर हस्ताक्षर करते समय इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए।

साथ ही पर्यावरण के लिहाज से विश्वस्त प्रौद्योगिकी की माँग क्योंकि मुख्य रूप से अल्पविकसित देशों की विशिष्ट भौगोलिक और सामाजिक–आर्थिक स्थितियों के द्वारा निर्धारित होती है इसलिए बहुत से मामलों में ये प्रौद्योगिकी विदेशों से हस्तान्तरित नही की जा सकती। अत: यह जरूरी है कि ये देश अपनी खुद की प्रौद्योगिकीय क्षमता विकसित करें जो अपने देश में नयी विशेषज्ञता और नयी प्रौद्योगिकियों को पैदा करने के अलावा आयातित तकनीक को आत्मसात करने, उसे अपने हिसाब से ढालने और उसका विकास करने में मददगार हो।

अल्पविकसित देशों के वित्तीय और प्रौद्योगिकीय लिहाज से कमजोर होने के चलते यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि दक्षिण की अर्थव्यवस्थाओं को टिकाऊ विकास के नमूने पर आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक बुनियादी शर्तों की गारण्टी के लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर किन्ही समझौतों पर पहुँचा जाये। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम अल्पविकास, गरीबी और पर्यावरण के विनाश के दुष्चक्र को स्थायी बना देगें जिसके न सिर्फ तीसरी दुनिया के लिए बल्कि समस्त मानवता के लिए गम्भीर पर्यावरण–सम्बन्धी, आर्थिक और सामाजिक परिणाम होंगे।

टिकाऊ विकास और पर्यावरण

दुनिया में आर्थिक और राजनीतिक शक्तिसन्तुलन में हुए उग्र बदलावों का फायदा उठाते हुए औद्योगीकृत राष्ट्र पर्यावरण की समस्याओं के वैश्विक चरित्र पर जोर देते हैं। इसके पीछे उनका स्पष्ट मंसूबा है अपनी काफी बड़ी जिम्मेदारियों को कम करके पेश करना। वे इस परिस्थिति का इस्तेमाल तीसरी दुनिया से भारी छूटें माँगने के लिए करते हैं। इस तरह, पर्यावरण आन्दोलन का अन्तरराष्ट्रीयकरण करने की प्रक्रिया को भी नई विश्व व्यवस्था के एक और अवयव में बदल दिया जाता है।

जैसा कि सर्वविदित है अन्तरराष्ट्रीय बहसों की गहमागहमी और पर्यावरण सम्बन्धी चेतना के अन्तरराष्ट्रीयकरण के सन्दर्भ में ''टिकाऊ विकास'' की अवधारणा को काफी महत्व दिया गया है। इसे मुख्यत:, अपनी खुद की जरूरतों को पूरा करने की भावी पीढ़ियों की क्षमता को जोखिम में डाले बिना, अपनी वर्तमान जरूरतों को पूरा करने में सक्षम विकास के रूप में समझा गया है। यह अवधारणा विकास के एक बेहतर रूप की आकांक्षा करती है जो अधिक न्यायसंगत और मानवीय हो।

टिकाऊ विकास की अवधारणा की समझदारी पर्यावरण विज्ञान को उसके संगत सन्दर्भ में रखकर देखने और वैश्विक स्तर की उस कार्रवाई की जरूरत पर अपना ध्यान केन्द्रित करने में है जो तात्कालिक लाभ से ऊपर उठकर सोचें और भावी पीढ़ियों के लिए जीवन के प्राकृतिक आधार को बचाने की फौरी जरूरत को मान्यता दे। गरीबी को एक गैर–बराबरी माना जाता है जिससे समग्रता में निपटा जाना चाहिए। जनसंख्या बढ़ोत्तरी को ठीक ही दरिद्रीकरण के परिणाम के तौर पर देखा गया है पर्यावरण विज्ञान और विकास को परस्पर विरोधी नहीं बल्कि परस्पर जुड़े हुए हिस्सों के तौर पर देखा जाता है।

फिर भी इसके लिए व्यापक रूप से बढ़ रही मान्यता के बावजूद, टिकाऊ विकास की धारणा विरोधाभासों और सीमाओं से मुक्त नहीं है। इनमें से एक है इसका संदिग्ध चरित्र जिसके चलते यह आज की दुनिया में मौजूद सामाजिक विषमताओं को तो चिह्नित करता है लेकिन उन प्रक्रियाओं को पहचानने से इनकार करता है जिन्होंने इस गैर–बराबरी को

पैदा किया है। टिकाऊ विकास की एक सुसंगत व्याख्या इस स्वीकारोक्ति से शुरू होनी चाहिए कि अल्पविकास तीसरी दुनिया की लूट का नतीजा है। ये लूट एक अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के जरिये हमारे समय में भी जारी है जो कर्ज की प्रक्रियाओं, दुनिया के श्रम के अन्यायपूर्ण बँटवारे, व्यापारिक संरक्षणवाद और वित्तीय प्रवाह पर नियंत्रण का इस्तेमाल अल्पविकसित राष्ट्रों के शोषण को और बढ़ाने के लिए करती है जिसका परिणाम पर्यावरण की तबाही के रूप में होता है।

इसके अलावा टिकाऊ विकास को पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक बराबरी, आर्थिक विकास और बाजार की शक्तियों में सामंजस्य कायम करने के सूत्र के रूप में देखने की एक प्रवृत्ति भी मौजूद है। स्पष्ट है कि बहुत से लोग टिकाऊ विकास की अवधारणा को एक नए यूटोपिया (स्वप्नलोक) के आलोक में ढकने का प्रयास कर रहे हैं। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि इसी से सम्बद्ध तथाकथित ''हरे-भरे बाजार'' की अवधारणा अल्पविकसित देशों के सामाजिक-आर्थिक भविष्य के लिए खतरे की सम्भावना लिए हुए है। इस अवधारणा के मुताबिक बाजार की शक्तियाँ खुद ही स्थायी और बराबरीपूर्ण सामाजिक आर्थिक और पर्यावरण सम्बन्धी विकास की गारण्टी करेंगी। ''हरे-भरे बाजार'' की यह अवधारणा, जो पर्यावरण और विकास के बारे में होने वाली बहसों पर नवउदारवाद के विनाशकारी प्रभाव को दर्शाती है, उन आर्थिक एजेण्टों के हित में है जो पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने के अधिकार को वैधता प्रदान करने और इस अधिकार का व्यावसायीकरण करने की कोशिश कर रहे हैं।

यह सुझाव टिकाऊ विकास की अवधरणा पर थोपी गई एक और बंदिश है कि उन्हीं बहुपक्षीय एजेंसियों को, जिन पर सबसे विकसित राष्ट्रों का वर्चस्व है और जो प्रमुख रूप से उन कारगुजारियों के लिए जिम्मेदार हैं जिन्होंने पर्यावरण को सबसे ज्यादा क्षति पहुँचायी है, अब एक समानता पर आधारित सामंजस्यपूर्ण, और पर्यावरण के लिहाज से दुरुस्त विकास को निर्देशित करना चाहिए। लेकिन टिकाऊ विकास आपसी समझ, न्याय ओर बराबरी के एक अन्तरराष्ट्रीय वातावरण पर निर्भर करता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि दुनिया के सामने मौजूद पर्यावरण से सम्बन्धित मुख्य चुनौतियों की स्वीकार्यता आम समाधानों की तलाश में लगे राष्ट्रों को एकता कायम करने के लिए प्रवृत्त करती है, लेकिन यह आम सहमति उस समय गायब हो जाती है जब विभिन्न राष्ट्रों की जिम्मेदारियाँ निश्चित करने और व्यापार के नियामकों और विदेशी वित्तीय सहायता और प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण जैसे मामलों में अन्तरराष्ट्रीय सहयोग के प्रति वचनबद्धताओं को तय करने का समय आता है।

नवउदारवादी सिद्धान्तों और उनके व्यवहार में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आये उभार, जिसकी शुरुआत 1980 के दशक की शुरुआत से होती है, और ''आदर्श बाजार'' के पुराने सिद्धान्तों के फिर से सिर उठाने का पर्यावरण के बारे में दुनिया में छिड़ी बहस पर काफी

प्रभाव पड़ा है। आर्थिक असन्तुलनों को ठीक करने के अकाट्य नुस्खे के तौर पर बाजार की शक्तियों को खुलकर खेलने का मौका देने के दर्शन के फिर से सर उठाने को कुछ रूढ़िवादी राजनीतिक ताकतों ने बढ़ावा दिया है, जिनका अत्यन्त औद्योगीकृत राष्ट्रों में से कुछ सबसे शक्तिशाली राष्ट्रों, जैसे अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन में पिछले दशक की शुरुआत से ही शासन है।

अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार ने यह दर्शाया है कि प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में सरकार की सक्रिय भूमिका जरूरी है। लेकिन ''हरे-भरे बाजार'' के विचार को प्रोत्साहित करने वाले लोग पर्यावरण के संरक्षण में राज्य की भूमिका को यथासम्भव कम कर देते हैं और प्राकृतिक संसाधनों की लूटपाट को तेज करने वाले अल्पकालिक व्यावसायिक हितों व इन संसाधनों को संरक्षित करने की आवश्यकता के दीर्घकालिक सामाजिक हित के बीच मौजूद अन्तरविरोध को नजरन्दाज कर देते हैं।

आज कुछ ऐसे देश और ताकतें भी हैं जो पर्यावरण सम्बन्धी वैश्विक चुनौतियों का मुकाबला करने के बहाने विकसित और अल्पविकसित देशों के सम्बन्धों पर ''हरे-भरे बाजार'' सिद्धान्त को थोपना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, प्रदूषणकारी गैसों के उत्सर्जन के अन्तरराष्ट्रीय परमिटों की व्यवस्था कायम करने और उसका व्यावसायीकरण करने के प्रस्ताव के बारे में यह बात सही है। अगर इस स्थिति का फैलाव होता है तो इसके अल्पविकसित देशों के भविष्य पर गम्भीर नकारात्मक प्रभाव होंगें।

नवउदारवादी नीतियों का बढ़ता हुआ प्रभाव हमारे लिए विशेष चिन्ता का कारण तब बनता है जब ये नीतियाँ अल्पविकसित राष्ट्रों पर थोपी जाती हैं या जब वे उत्तर-दक्षिण सम्बन्धों में समाहित की जाने लगती हैं। इसका एक स्पष्ट उदाहरण है कर्जदार देशों के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा सुझाया गया वृहत आर्थिक कार्यक्रम जिसमें मुनाफा कमाने, प्रतिबन्ध लगाने और निजीकरण करने पर जोर होने के कारण पर्यावरण पर उसका बहुत ही बुरा असर पड़ा है। विदशी कर्जों की किश्तें चुकाने के वास्ते धन जुटाने के लिए इन कार्यक्रमों द्वारा प्रोत्साहित किये गये उपायों में से एक है– सार्वजनिक व्यय में कटौती और विदेश-व्यापार में सन्तुलन हासिल करने के लिए कोई भी सम्भव तरीका अपनाना। इसी तरह, नवउदारवाद के इस तर्क के आधार पर कि राज्य की गतिविधियों में कार्यकुशलता नहीं होती, अर्थव्यवस्था में राज्य की हिस्सेदारी को यथासम्भव कम कर दिया गया है और बड़े पैमाने पर निजीकरण को बढ़ावा दिया गया है।

जब सार्वजनिक व्यय में कटौती की जाती है तो पर्यावरण संरक्षण पर होने वाला निवेश उन निवेशों में से होता है जिन्हें सबसे पहले रोका जाता है। इतना ही नहीं, किसी भी कीमत पर व्यापारिक सन्तुलन को बनाये रखने के प्रयासों के तहत दोनों किस्म के

प्राकृतिक संसाधनों– वे जिनका नवीनीकरण होता रहता है और वे जिनका नवीनीकरण नहीं होता– के अत्यधिक दोहन पर ध्यान दिये बिना अक्सर निर्यातों की मात्रा बढ़ा दी जाती है। हताशा में किये गये ये प्रयास हमेशा सफल भी नहीं होते।

आई.एम.एफ. के ढाँचागत समायोजन कार्यक्रमों के सामाजिक–आर्थिक प्रभावों के विश्लेषण पर आधारित हाल के कई अध्ययनों ने इस सच्चाई को उद्घाटित किया है कि उसके नुस्खे न सिर्फ गरीबी और पर्यावरण की समस्याओं को नजरन्दाज करते हैं बल्कि अल्पविकसित देशों में इन दोनों की पूर्ण उपेक्षा को प्रोत्साहित भी करते हैं। इनमें से एक अध्ययन दर्शाता है कि 1986 और 1990 के बीच आई.एम.एफ. ने कुल 48 समायोजन कार्यक्रम लागू किये जिनमें से 78 फीसदी में सार्वजनिक खर्चों, खासकर सामाजिक क्षेत्र के खर्चों में कटौती शामिल है। कर्जदार देशों की सरकारों ने इन शर्तों का पालन निम्न तरीकों से किया– 92 फीसदी मामलों में लोगों के लिए घर या सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था, या उनकी आर्थिक सहायता पर होने वाले खर्च में कटौतियाँ की गयीं, 62 फीसदी मामलों में इन तीन क्षेत्रों में से दो में खर्चों में कटौती की गयी और 29 फीसदी मामलों में सभी क्षेत्रों पर होने वाले खर्च में 20 फीसदी से अधिक की कटौती की गयी।

परिणामस्वरूप, इन कार्यक्रमों की वजह से न सिर्फ पर्यावरण ही प्रत्यक्ष तौर पर प्रभावित हुआ है बल्कि हाल के वर्षों में अल्पविकसित देशों में सामाजिक गैर–बराबरी खासतौर पर गरीबी को बढ़ावा देने वाला मूल कारक भी यही कार्यक्रम रहे हैं। इस तरह अप्रत्यक्ष तौर पर भी उन्होंने पर्यावरण के क्षरण में अपनी भूमिका निभायी है। ये नवउदारवादी नुस्खे निस्संदेह अल्पविकसित देशों की व्यवस्थाजनित गरीबी के लिए उत्तरदायी कारकों की उस शृंखला में 1980 के दशक में जोड़ी गयी बुनियादी कड़ी है जिसने प्रारम्भ से ही उनकी अर्थव्यवस्थाओं को संकट में डाला हुआ है।

क्यूबा की पर्यावरण नीति और यथार्थ

क्यूबा में, 1959 में क्रान्ति की विजय के साथ ही जनता की सम्पत्ति यानि प्राकृतिक संसाधनों की हिफाजत और उनके संरक्षण के प्रति ध्यान देने का काम शुरू हुआ। उन शुरुआती वर्षो में, वनों के विस्तार के लिए विशेष प्रयास किये गये, जिन्हें औपनिवेशिक काल में और विशाल गन्ना फार्मों तथा पशु फार्मों के विस्तार के काल में उजाड़ दिया गया था।

क्यूबा में, जो एक समाजवादी देश है, पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधन पूरे समाज की साझी विरासत माने जाते हैं। इसलिए उनकी हिफाजत पूरे राष्ट्र के सरोकार का विषय बनता है। पर्यावरण की समस्यओं के लिए यह सरोकार पूरे समाज में परिलक्षित होता है। 1976 में एक जनमत संग्रह के जरिये अंगीकार किया गया गणराज्य का संविधान स्पष्ट तौर पर यह करार करता है कि देश के पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों की हिफाजत

करना राज्य की और हरेक नागरिक की जिम्मेदारी है। 1981 में जनता की सरकार की राष्ट्रीय सभा ने, जो देश का सर्वोच्च वैधानिक निकाय है, 'पर्यावरण सुरक्षा और प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण इस्तेमाल अधिनियम' पारित किया। पर्यावरण सुरक्षा मानकों की एक व्यवस्था कायम करने के देश के प्रयासों को आगे बढ़ाते हुए 1990 में 'राष्ट्रीय सुरक्षा व्यवस्था' बनायी गयी।

1977 में 'पर्यावरण सुरक्षा और प्राकृतिक संसाधनों के विवेकपूर्ण इस्तेमाल हेतु राष्ट्रीय आयोग' का गठन किया गया जिसमें विभिन्न राज्य एजेंसियों और नागरिक समाज के क्षेत्रों से प्रतिनिधि शामिल किये गये। 1980 में देश के सभी प्रान्तों और नगरपालिकाओं में इसी प्रकार के आयोग गठित किये गये।

क्यूबा की क्रान्ति द्वारा लाये गये बुनियादी परिवर्तनों ने पर्यावरण को सीधे फायदा पहुँचाया है। जीवन की परिस्थितियों के रूपान्तरण के जरिये उसने वह पूर्वाधार तैयार कर दिया है जिसके चलते आज लोग पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले काम करने को मजबूर नहीं हैं। सबको काम मिलना, लागों में खुशहाली लाने के उद्देश्य से काम करने वाली और व्यापक आधार वाली एक स्वास्थ्य सेवा का विकास करना और लोगों की शिक्षा के आम स्तर एवं उनके तकनीकी और व्यावसायिक प्रशिक्षण में उल्लेखनीय प्रगति का होना पर्यावरण की सुरक्षा के बुनियादी कारक रहे हैं।

इस ठोस सामाजिक आधारों पर, क्रान्ति के इन 30 वर्षों के दौरान, क्यूबा ने पर्यावरण के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धियाँ हासिल की हैं। जैसे जल संसाधनों का सृजन और उनका समुचित उपयोग, पार्कों और संरक्षित क्षेत्रों के एक विशाल नेटवर्क का निर्माण, वनस्पतियों और जन्तुओं की सुरक्षा के लिए सुसंगत नीतियों को लागू करना और जैव–विविधता का संरक्षण करना, उन बहुत सी उपलब्धियों में से हैं जो उल्लेखनीय हैं। लेकिन फिर भी, क्यूबा में पर्यावरण की समस्याएँ आज भी मौजूद है और उनको काबू में लाने और उनका उन्मूलन करने का काम जारी है।

इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है खाड़ियों का प्रदूषण। हवाना की खाड़ी के मामले में समस्या की तह तक पहुँचने में क्यूबा को बहुमूल्य अन्तरराष्ट्रीय सहयोग मिला है और अब हम उसे हल करने में जुट गये हैं। खासकर खानों के इलाके में, मिट्टी के कटाव और क्षरण को रोकने के लिए और साथ ही, गन्ना उद्योग से निकलने वाले गन्दे पानी द्वारा पानी के खुले स्रोतों का प्रदूषण जैसी कुछ स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए काफी काम किया गया है।

कटाव से क्षतिग्रस्त समुद्री तटों और तटवर्ती इलाकों के पुनरुद्धार के मामले में भी प्रगति हुई है। हवाना प्रान्त में साउदर्नडाइक (दक्षिणी बाँध) नामक एक बहुत बड़ी

परियोजना अभी हाल में ही पूरी की गयी है। यह दसियों हजार हेक्टेयर जमीन का लवणीकरण होने से रोकेगा और उसे फिर से उपजाऊ बनाकर खेती के काम में लाया जा सकेगा। इससे खेती, उद्योग, हवाना शहर और हवाना प्रान्त में रहने वाली अबादी की पानी की आवश्यकता को पूरा करने के लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण जल संसाधनों की पुन: प्राप्ति भी होगी।

रणनीतिक तौर पर पर्यटन को प्राथमिकता दिये जाने के कारण समुद्री तटों, भित्तियों और पर्यटन के लिहाज से सम्भावनायुक्त अन्य इलाकों में बुनियादी ढाँचे के विकास की परियोजनाओं को पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का सावधानीपूर्वक आकलन करने के बाद ही क्रियान्वित किया जाता है। इसके अलावा हर निवेश के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों पर भी लगातार नजदीक से नजर रखी जाती है। वास्तव में क्यूबा के पर्यावरण की अनुकूल परिस्थितियाँ पर्यटन उद्योग के विकास के लिए एक मूलाधार हैं जिसमें पर्यावरण से जुड़े हुए पर्यटन का एक अच्छा-खासा हिस्सा भी शामिल है।

समुद्र की तली पर्यावरण का एक अन्य क्षेत्र है जिसपर क्यूबा में प्राथमिकता के आधार पर ध्यान दिया जाता है। इसमें प्रवाल भित्तियों की सुरक्षा के लिए उठाये गये सख्त कदम विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं।

आज क्यूबा में पर्यावरण सुरक्षा के एक सबसे बड़े हथियार के बतौर लोगों में पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करने तथा उसे प्रोत्साहित करते रहने का काम हो रहा है। इन नीतियों को लगातार लागू करने से कुछ महत्वपूर्ण सफलताएँ मिली हैं। पिछले 30 सालों में देश में वनों द्वारा आच्छादित क्षेत्रफल 14 फीसदी से बढ़कर 20 फीसदी हो गया है। इस पंचवर्षीय योजना में डेढ़ अरब पेड़ और लगाये जायेंगें। क्यूबा में वायुमण्डल के प्रदूषण की कोई गम्भीर समस्या नहीं है।

1960 के दशक में देश के पहाड़ी इलाकों में प्राकृतिक संसाधनों के समेकित इस्तेमाल की व्यवस्था कायम करने के लिए शुरुआती कदम उठाये गये थे। आज यह कार्यक्रम पर्यावरण सुरक्षा के साथ जुड़कर ग्राम समुदायों को मजबूत बनाने, लोगों के सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण करने और उनका जीवन स्तर ऊपर उठाने के उद्देश्य से काम कर रहा है। यह क्यूबा के सभी पहाड़ी इलाकों में चलाया जा रहा है, जो क्यूबा के कुल राष्ट्रीय क्षेत्रफल का 18 फीसदी है। फिर से वन लगाने और कॉफी एवं कोको बागानों की वृद्धि के मामले में इसने उल्लेखनीय परिणाम हासिल किये हैं। इसकी वजह से हाल के वर्षों में देश के सभी पर्वतीय इलाकों से पलायन करने के बजाय लोग वापस आ रहे हैं।

क्यूबाई समाज का विकास समानता के उच्च स्तर और सामूहिक भागीदारी के जरिये प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ तक कि अलग-अलग विदेशी विद्वान भी स्वतन्त्र शोधों के जरिये

इसी बात को बहुत स्पष्ट करने वाले नतीजों पर पहुँचे हैं। 1960 और 1985 के बीच प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर 3.1 फीसदी सालाना थी। आज देश की कुल आबादी के सबसे कम आय वाले 40 फीसदी लोग कुल आय का 26 फीसदी हासिल करते हैं। आय के वितरण का गिनी सूचकांक– जो समानता को नापने के लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त सांख्यिकीय सूत्र है– 1986 में 0.22 फीसदी था। इस लिहाज से क्यूबा दुनिया के सबसे ज्यादा समानता वाले देशों में आता है।

क्यूबा में समानता की गारण्टी जीवन स्तर और जीवन की गुणवत्ता का निर्धारण करने वाली बुनियादी सामाजिक सेवाओं तक सबकी, बिना किसी भेदभाव के, पहुँच के जरिये की जाती है। बुनियादी सामाजिक सूचकांकों के जरिये इसे पूरी तरह नापा जा सकता है। इस अर्थ में, कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि सात सबसे ज्यादा औद्योगीकृत देशों की तुलना में 10 गुना कम प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद वाले देश क्यूबा ने पिछले 30 सालों में उन सात देशों के बराबर स्वास्थ्य और शिक्षा सूचकांक हासिल कर लिये हैं और कुछ मामलों में उनसे आगे भी निकाला गया है। उदाहरण के लिए–

* क्यूबा की औसत जीवन प्रत्याशा दर 75 साल से ज्यादा है जो उन देशों के बराबर है
* 1991 में शिशु मृत्युदर 1000 जन्मों पर 10.7 थी जो उन देशों से थोड़ी ही अधिक है, लेकिन इटली और अमरीका के करीब-करीब बराबर बैठती है।
* आज क्यूबा में प्रति व्यक्ति डॉक्टरों और प्रति छात्र प्राथमिक अध्यापकों की संख्या उन सारे देशों की समग्र संख्या से भी ज्यादा है।
* स्वास्थ्य कर्मियों की देख-रेख में पैदा होने वाले बच्चों की संख्या उन देशों के बराबर है।
* क्यूबा में मुख्य बीमारियों के टीके अपेक्षाकृत ज्यादा प्रतिशत बच्चों को लगाये जाते हैं।
* प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में छात्रों की उपस्थिति उन देशों के लगभग समान है और अनिवार्य शिक्षा भी समान वर्षों तक दी जाती है।

यदि कोई व्यक्ति क्यूबा के समाज की बराबरीपूर्ण प्रकृति के बारे में आश्वस्त होने के लिए सबसे धनी देशों से तुलना को अपर्याप्त समझता है तो वह देश के विभिन्न इलाकों में इन सूचकांकों की तुलना करके भी देख सकता है। राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तर पर इकट्ठे किये गये प्रमुख सामाजिक सूचकांकों को आँकड़ों में मौजूद फर्क को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सूचकांकों में अधिकतम और न्यूनतम के बीच आमतौर पर बहुत कम अन्तर है। इसका मतलब है कि राष्ट्रीय औसत बहुत बड़ी क्षेत्रीय विषमताओं पर पर्दा नहीं डालता। किसी क्षेत्र विशेष में सबसे बेहतर स्थिति को दर्शाने वाला अधिकतम सूचकांक अन्य इलाकों की तुलना में राजधानी में शायद ही कभी ज्यादा रहता हो। इसके

विपरीत, अक्सर ऐसे इलाकों में ही सूचकांक ज्यादा रहते हैं जो क्रान्ति की प्रक्रिया के आरम्भ होने के पहले देश के सबसे पिछड़े इलाकों में आते थे।

क्यूबा आज अपने इतिहास की सबसे कठिन चुनौती का सामना कर रहा है। यह सर्वविदित है कि पूर्वी यूरोप के भूतपूर्व समाजवादी देशों और भूतपूर्व सोवियत संघ में हुए परिवर्तनों का क्यूबा की अर्थव्यवस्था पर बहुत भारी प्रभाव पड़ा है। क्यूबा का 85 फीसदी व्यापार इन्हीं देशों के साथ था। यही वजह है कि आज क्यूबा को पिछले 30 सालों से भी ज्यादा समय से अमरीका द्वारा थोपी गयी बढ़ती हुई नाकेबन्दी के अलावा इन अन्तरराष्ट्रीय परिवर्तनों के फलस्वरूप पैदा हुई एक दूसरी नाकेबन्दी को भी झेलना पड़ रहा है।

सितम्बर 1990 में शान्तिकाल के तथाकथित विशेष दौर की शुरुआत की गयी। यह इन नये हालात में पुनर्समायोजन का दौर है और आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों में अधिकतम मितव्ययता और आडम्बरहीनता की माँग करता है। साथ ही, यह बहुत सारी सृजनात्मक पहलकदमियों की भी अपेक्षा करता है और काफी बड़ी तादाद में ये पहलकदमियाँ सीधे जनता के बीच से हो रही हैं। इस विशेष दौर के चलते बहुत से कदम उठाये गये हैं जो क्रान्ति की रणनीतिक कार्यदिशा के अनुरूप हैं। उनमें से कुछ कदम देश में पर्यावरण की हिफाजत के लिए अपनायी गयी नीतियों को त्वरित गति से आगे बढ़ाने में मददगार रहे हैं। इन नीतियों का एक उदाहरण है आयातित तेल की मात्रा में कमी के परिणामस्वरूप उठाये गये कदम।

इसका सबसे उल्लेखनीय पहलू यह है कि सामाजिक सुरक्षा और जनभागीदारी की गारण्टी करने वाले और पर्यावरण के लिए महत्वपूर्ण फायदे पहुँचाने वाले उपायों के जरिये हम बिजली के उपभोग में आवश्यक कटौती करने में सफल रहे हैं। बिजली की घरेलू खपत को कम करने के लिए हमने बिजली की दरें नहीं बढ़ायी क्योंकि इसका कम आय वाले लोगों पर बुरा असर पड़ता। इसके स्थान पर, आमतौर पर खर्च की जाने वाली बिजली की औसत मात्रा के हिसाब से हमने उपभोग की अधिकतम सीमाएँ तय की। परिवारों को इसकी जानकारी होती है और वे इसके अनुरूप योजना बनाकर अपने उपभोग में आवश्यक कटौती कर सकते हैं।

परिवहन खर्चों में कटौती के लिए साइकिल के इस्तेमाल को बढ़ावा दिया गया जो जनता की व्यापक भागीदारी के कारण एक अभिनव परिवर्तन था। लाखों साइकिलें आयात की गयीं, साइकिलों का उत्पादन करने के लिए कई कारखानों का स्वरूप बदला गया और लगभग 5 लाख साइकिलें मजदूरों और छात्रों के बीच बाँटी गयीं। सभी उम्र के साइकिल सवारों की भारी संख्या पैदा हुई है। यह परिघटना कई सालों से जारी सबको स्वास्थ्य की

गारण्टी करने वाली नीतियों से पूरी तरह संगत है जिनमें वरिष्ठ नागरिकों के लिए व्यायाम के कार्यक्रम भी शामिल हैं। इस तरह, ईंधन की मौजूदा कमी हालाँकि रोजमर्रा के जीवन पर नकारात्मक प्रभाव डालती है, लेकिन पर्यावरण के लिहाज से फायदेमन्द भी है।

सामूहिक समाधान की अपेक्षा रखने वाले और पर्यावरण के लिहाज से मूल्यवान इस प्रकार के अन्य उदाहरण हैं– दवा के रूप में जड़ी-बूटी का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल, स्थानीय फलों और सब्जियों की बागवानी को प्रोत्साहन (यहाँ तक कि रिहायशी इलाकों में आहातों और छज्जों पर भी), खेती में पशुचालित यन्त्रों का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ाना, कम्पोस्ट खाद बनाने के तरीकों का विकास इत्यादि।

विशेष दौर की मुश्किलों के लिए वैकल्पिक समाधान की तलाश के दौरान देश अपनी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक– लोगों की वैज्ञानिक और तकनीकी दक्षता– का इस्तेमाल कर सकता है। इस तरह के प्रशिक्षण को प्राथमिकता देने के नतीजे आज सार्थक साबित हो रहे हैं। इसकी अभिव्यक्ति एक ऐसे शैक्षणिक स्तर के रूप में हो रही है जो वैज्ञानिक शोधों के क्षेत्र में भारी उन्नति के रूप में परिलक्षित होता है। इन शोधों के नतीजों को तुरन्त ऐसे उत्पादन कार्य में लगाया जाता है जिससे पर्यावरण को कोई खतरा न हो।

रासायनिक खादों, कीटनाशकों और पशुआहार के आयात में भारी गिरावट के चलते विशेष दौर में कृषि उत्पादन के क्षेत्र में भी वैकल्पिक समाधान ढूँढने की जरूरत रही है। पिछले कुछ सालों में हुए वैज्ञानिक शोध के कुछ नतीजे तुरन्त व्यवहार में लागू किये गये हैं। उनमें से कुछ एक जो पर्यावरण के मामले में अपने महत्व और सामान्यीकरण के स्तर के कारण उल्लेखनीय हैं, इस प्रकार हैं– अजोटोबेक्टर (नाइट्रोजन बनाने वाले बेक्टीरिया), राइजोबियम और माइकोरायजा जैसी जैविक खादों का इस्तेमाल, पौधों की अंगमारी और उनमें लगने वाले रोगों की रोकथाम के लिए जैविक नियन्त्रकों का, खासतौर पर 'रोगजनक कीट और कीटहारीजीव पुनरूत्पादन केन्द्रों' में विकास जो बहुत थोड़े समय में तैयार किया गया एक व्यापक नेटवर्क है, पशुआहार के स्रोतों की खोज, जैसे पशुजनित खाद के इस्तेमाल और बारी-बारी से चरागाहों का इस्तेमाल करने की तर्कसंगत व्यवस्था, गन्ने और चीनी उद्योग के उप उत्पादों से पशुआहार का विकास और ऐसे अन्य अभिनव समाधानों का उनकी व्यवहार्यता साबित होने के तत्काल बाद क्रियान्वयन किया जाना।

चीनी उद्योग देश की एक प्रमुख आर्थिक शाखा है। इस उद्योग से निकलने वाली सामग्री और बहिस्राव का उपचार करने के मामले में उल्लेखनीय प्रगति हुई है और इसका इस्तेमाल पशुआहार, ऊर्जा के नए स्रोत, उर्वरक स्प्रे और कागज बनाने के काम में किया जाता है।

इन समाधानों के और अधिक सघन इस्तेमाल का काम ज्ञान के संचयन के जरिए ही सम्भव है। ऐसे समाधानों का पर्यावरण की दृष्टि से अनुकूल होना मात्र संयोग ही नही होता है। ऐसा तभी होता है जब विकास की ऐसी रणनीति लागू की जाए जो आर्थिक और सामाजिक विकास का पर्यावरण सम्बन्धी सरोकार के साथ सामंजस्य बैठाये।

कार्य योजना

क्यूबा अपनी सम्भावनाशील वैज्ञानिक शोध क्षमता और कार्यकुशल मानव संसाधनों के चलते संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्य अन्तरराष्ट्रीय सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों में चलाए जा रहे पर्यावरण और सामाजिक सहायता के कार्यक्रमों में सहयोग कर सकता है। इसलिए उन बहुत से प्रस्तावों में जिन्हे यहाँ पेश किया जा सकता है, हमारा पहला प्रस्ताव है– स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा, कृषि और पर्यावरण सुरक्षा जैसे क्षेत्रों में प्रशिक्षण प्राप्त कार्यकर्त्ता मुहैय्या कराना और वैज्ञानिक शोध के मामले में, जिसमें क्यूबा अच्छी खासी उपलब्धियाँ हासिल कर चुका है, हर संभव सहायता देना।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस सम्मेलन के सामने पेश किया गया जैव-विविधता समझौता और वे कदम जो इसके चलते उठाने होंगे, जैव-विविधता में शामिल वर्तमान और भावी सम्पदा की सुरक्षा और जैव-प्रौद्योगिकी सम्बन्धी शोधों के परिणामों के सुरक्षित और विवेकपूर्ण इस्तेमाल का एक प्रशंसनीय प्रयास है। फिर भी इसमें कोई दो राय नहीं है कि मौजूदा हालात में तीसरी दुनिया के देशों को इन क्षेत्रों में परस्पर सहयोग बढ़ाने और उसे और गहरा बनाने की जरूरत है। यही कारण है कि क्यूबा ने यह उपयुक्त समझा कि जैव-विविधता की सुरक्षा और संरक्षण तथा जैव-प्रौद्योगिकी सम्बन्धी विकास तक पहुँच के लिए दक्षिण के देशों का एक स्थायी मंच बनाया जाये।

इस प्रस्ताव का उद्देश्य विचारों और परियोजनाओं के बारे में विचार-विमर्श और उनमें सामंजस्य के लिए एक प्रणाली तैयार करना है जो लाल फीताशाही से मुक्त हो और जो तीसरी दुनिया के देशों को अपने लिए भारी महत्व रखने वाले इन मुद्दों पर बहस जारी रखने का मौका दे। यह सन्धि अभिपुष्ट होने के बाद होने वाली सदस्यों की बैठक की तैयारी के लिए एक आम अवस्थिति पर पहुँचने में भी उनकी सहायता करेगा। अन्य बातों के अलावा यह स्थायी मंच निम्नलिखित सवालों पर अपने विश्लेषण को केन्द्रित कर सकता है–

* जीन संसाधनों के कानूनी तौर पर संरक्षण के लिए एक समान व्यवस्था कायम करना जिससे इन संसाधनों तक पहुँच के एवज में उचित मुआवजा देने की प्रक्रिया भी शामिल हो।
* सबके सहयोग से जुटाए गए जीन-संसाधनों पर आधारित विकास जैव-प्रौद्योगिकी

तक पहुँच को आसान बनाने में सक्षम आम प्रणालियों को लागू करना।
* तीसरी दुनिया के उन देशों में परामर्श देने की सुविधाओं का सृजन करना जिन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में भारी प्रगति की है तथा कार्यकर्त्ताओं के तकनीकी प्रशिक्षण और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से विशेषज्ञों की अदला-बदली को सुगम बनाना।
* मूल निवासियों की पहचान– उनकी जीवन शैलियों, संस्कृति, भाषा और परम्पराओं की हिफाजत और मनुष्य और पर्यावरण के बीच के अनिवार्य रिश्तों के बारे में उनके प्राचीन ज्ञान की सुरक्षा के लिए एक आम पहुँच कायम करना।
* जीन तकनीक से संवर्धित और पर्यावरण के लिए खतरनाक जीवों के खिलाफ सामूहिक सुरक्षा प्रणालियों का विस्तार।
* तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों और इन देशों में हुए शोध कार्यों के नतीजों की कानूनी तौर पर सुरक्षा के लिए सुविधाओं का निर्माण करना।

आपसी परामर्श की इस व्यवस्था के साथ-साथ, दक्षिण के देशों में जैविक-विविधता के संरक्षण के लिए एक केन्द्र कायम करने की सम्भावना पर भी विचार किया जा सकता है। इस सम्मेलन में जैविक-विविधता समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले सभी देशों को इसमें भाग लेना चाहिए और इसका मुख्यालय जैविक-विविधता के धनी किसी देश में होना चाहिए। ब्राजील, जो इस बैठक का कुशल और उपयुक्त मेजबान रहा है, निस्संदेह इस काम के लिए एक अच्छी जगह हो सकती है। इस केन्द्र का मुख्य उद्देश्य होगा देश के भीतर विविधतापूर्ण पर्यावरणतन्त्रों का संरक्षण करना और अन्य देशों में पाये जाने वाले उष्ण-कटिबन्धीय जीन संसाधनों का भी संरक्षण करना।

पर्यावरण पर स्टॉक होम में हुई पहली बैठक के बाद से गुजर चुके 20 सालों में दुनिया की आबादी में 1 अरब 60 करोड़ की वृद्धि हुई है जिसका 80 फीसदी हिस्सा तीसरी दुनिया में है। भयंकर गरीबी में जीने वाले लोगों की आबादी एक अरब से भी ज्यादा हो गयी। भुखमरी अभूतपूर्व स्तरों तक पहुँच गयी और करोड़ों लोग संक्रमण व अभाव से होने वाली बीमारियों से ग्रस्त हो गये। इसी दौरान तीसरी दुनिया में 5 साल से कम उम्र के लगभग 25 करोड़ बच्चों की मृत्यु हो गयी और 1 करोड़ औरतें प्रसव के दौरान अपनी जान गँवा बैठीं। इन्हीं वर्षों में दुनिया में 480 अरब मीट्रिक टन खेती योग्य ऊपरी मिट्टी कटाव के कारण नष्ट हो गयी, 30 करोड़ हेक्टेअर वन भूमि का सफाया कर दिया गया, रेगिस्तान 12 करोड़ हेक्टेअर से ज्यादा ऊपजाऊ जमीन को लील गया, खाद्यान्न का प्रतिव्यक्ति उत्पादन स्थिर रहा और तीसरी दुनिया में इसमें गिरावट आयी, पानी के अपरिमित भण्डार या तो प्रदूषित हो गये या सूख गये और वनस्पतियों और जन्तुओं की दसियों हजार प्रजातियाँ विलुप्त हो गयीं।

आज यह प्रस्तावित किया जा रहा है कि पर्यावरण की सुरक्षा के लिए सभी देशों की सहमति और भागीदारी से एक वैश्विक व्यवस्था कायम की जाये। राजनैतिक और सैनिक दृष्टिकोण से विश्व की सुरक्षा को लेकर बहुत बातें होती रही हैं। इसकी तलाश ने विशालकाय सैनिक ताकतों को जन्म दिया है। लाखों दिमागों और अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक शोध प्रयासों को इन हितों के लिए बलिदान किया गया। अल्पविकसित दुनिया में सामाजिक और आर्थिक तबाही का मुकाबला करने कि लिए आवश्यक बुनियादी संसाधनों को बर्बाद किया जा रहा है जिसके राजनीतिक, सामाजिक और पर्यावरण-सम्बन्धी दुष्परिणामों का अन्दाजा लगाया जा सकता है। मौजूदा हालात में यदि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर तनाव में कमी और शान्ति का एक सच्चा माहौल पैदा किया जाता है तो दुनिया की सुरक्षा तीसरी दुनिया में मौजूद गरीबी और अल्पविकास की समस्या के प्रभावी समाधान और प्रकृति के संरक्षण पर निर्भर करेगी जो हम सब की जिम्मेदारी है।

मानवजाति पर्यावरण के विनाश को अब भी रोक सकती है और उसकी दिशा उलट सकती है। फिर भी यह पूछना उचित ही प्रतीत होता है कि इसके लिए उसके पास कितना समय बचा है। यदि मौजूदा रुझान जारी रहते हैं तो अगले 40 सालों में दुनिया की आबादी दोगुनी हो जायेगी, पर्यावरण को गहरी और अपूरणीय क्षति पहुँचेगी, उष्ण-कटिबन्धीय बरसाती वन लगभग गायब हो चुके होंगे, आज जिस जमीन पर फसलें लहलहा रही हैं और पशु चर रहे हैं, उसके बड़े-बड़े हिस्से विशाल रेगिस्तानों, बंजर और निम्न कोटि की जमीनों में बदल चुके होंगे, पूरे के पूरे इलाकों में पीने का साफ पानी ढूँढ पाना बहुत मुश्किल या एकदम असम्भव हो जायेगा और भुखमरी अनियन्त्रित और असाध्य गति से फैलेगी।

कुछ लोग राजनीतिक और आर्थिक कारणों से इस समस्या के महत्व को कम करते हैं। प्रचुरता, फिजूलखर्ची और उपभोक्तावाद के दम पर कायम अपनी विशेषाधिकार की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए उनके द्वारा सालों पहले अपनाये गये उदासीनता के रवैये के कारण आज मानवता चौराहे पर खड़ी है। मानव जाति के सामने आज एक अनिश्चित भविष्य मुँह बाये खड़ा है जिसके बारे में यदि हम समय रहते ठोस और प्रभावी कदम उठाने में असफल रहते हैं तो धनी और विकसित देशों की जनता भी दुनिया की गरीब जनता के साथ मिलकर एक ही जमीन पर खड़ी अपने अस्तित्व के खतरे और अन्धकारमय भविष्य से जूझ रही होगी।

निस्संदेह इस संकट के समाधान के लिए एक सुस्पष्ट राजनीतिक इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। इसके अलावा प्रचुर वित्तीय संसाधनों की भी जरूरत है जो मौजूदा अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में मौजूद हैं और प्राप्त भी किये जा सकते हैं।

पिछले 20 सालों में दुनिया ने 130 अरब डालर सैनिक खर्चों मे उड़ा दिये हैं। यहाँ तक कि 1991 में भी, जब शीत युद्ध और महाशक्तियों के आपस में टकराव का खतरा अतीत की बात हो चुकी थी, कुल सैनिक खर्च लगभग 10 अरब डालर रहा। ये वे साधन हैं जिनसे इन कार्यक्रमों को वित्त उपलब्ध करवाया जा सकता है।

इस सम्मेलन की सफलता यहाँ बने सम्बन्धों और साझेदारियों के आधार पर आँकी जायेगी। हम मानवता के प्रतिनिधि हैं और हमारा नैतिक कर्त्तव्य, राजनैतिक वचनबद्धता और असाधारण एवं ऐतिहासिक उत्तरदायित्व हमसे ठोस निर्णयों, ठोस कदमों और एक प्रतिबद्धता की माँग करते हैं जिन्हें अब और टाला नहीं जा सकता है।